कुरल-काव्य

तामिल भाषा में मूल लेखक
श्री एलाचार्य

संस्कृत तथा हिन्दी में अनुवादक
विद्याभूषण पं० गोविन्दराय जैन, शास्त्री

卐

[महावीर जयन्ती, वीर सं० २४८०]

प्रकाशक—
पं० गोविन्दराय जैन, शास्त्री
महरौनी (झाँसी) उ० प्र०

मूल्य १०) दश रुपये

मुद्रक—
पं० परमेष्ठीदास जैन
जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर

विषय-सूची

आत्म-निवेदन

प्रस्तुत कुरल काव्य का हमें सब से प्रथम परिचय आज से ४० वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय हम बनारस के स्याद्वाद् महाविद्यालय में अध्ययन करते थे। "दैनिक पाटलिपुत्र" में उसके सम्पादक स्वनामधन्य श्रीयुत बाबू काशीप्रसाद जी जायसवाल ने कई लेख कुरल काव्य के विषय में लिखे थे। जिन्हें पढ़कर हमारे मन में इस काव्य के प्रति अत्यधिक आदर उत्पन्न हुआ। बाबू साहब ने एक लेख में यह भी लिखा था कि "जब तक कुरल काव्य जैसे संसारप्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में न होगा तब तक उस का साहित्य-भण्डार अपूर्ण ही रहेगा।" सहपाठी मद्रासी छात्रों से यह जानकर और भी अधिक हर्ष हुआ कि यह एक जैनाचार्य की कृति है।

इन बातों से उसी समय हमारे मनमें यह विचार आया कि इस लोकोपकारी महान् ग्रन्थ का अनुवाद हिंदी में पद्य में भी होना चाहिए जैसा कि वह तामिल भाषा में है। उस समय योग्यता के न होने से तथा बाद में अवकाश न मिलने से वह विचार मन में सुप्त सा बना रहा।

दैव-दुर्विपाक से जब हमारे दोनों नेत्र सहसा (सन् ४० में) एक ही रात्रि में धार में चले गये तो चिन्ता हुई कि आगे का जीवन अब किस रूप में व्यतीत किया जावे? आर्तध्यान और रौद्रध्यान में उसे व्यतीत करना तो मूर्खता की बात होगी। पवित्र जैनधर्म के सिद्धान्त और सद्गुरुओं के उपदेश इसी दिन के लिए हैं कि संकट में धैर्य रखकर उच्चकार्यों में शेष जीवन को लगाना चाहिए।

अतः हमने इस काव्य के अनुवाद करने की ठानी। साथ ही यह भी विचार आया कि यह "धारा" राजा भोज की नगरी है जिसमें संस्कृत के बड़े बड़े उद्भट विद्वान हुए हैं। अब संस्कृत में रचना का प्रवाह बन्द हो गया है, वह भी चालू रहे। इसलिए हमने

हिन्दी के साथ ही संस्कृत में भी अनुवाद प्रारम्भ कर दिया। उसी का फल यह आपके सामने उपस्थित है। अब तक यह हमारे हाथ में था आज से हम इसे जगत के न्यायप्रिय पुरुषों के कर कमलों में दे रहे हैं।

फल में यदि कुछ मिठास है तो वह वृक्ष का ही गुण है। इस कारण इन अनुवादोंकी सरसता का सारा श्रेय हम अपने शिक्षादाता सद्-गुरुओं को ही देते हैं। श्रीमान् पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी के हम विशेषत: कृतज्ञ हैं जो हमें दस वर्षकी आयु में ही घरसे काशी ले गये। उन्हींके शुभ प्रसाद का यह फल है कि हम आज इस योग्य बन सके।

नेत्र जाने के पश्चात् चि० दयाराम ने इस युग का श्रवणकुमार बनकर जिस प्रेम के साथ हमारी परिचर्या की उसको हम ही जानते हैं। इस कुरल काव्य की रचना के समय भी उसने हमारे नेत्र और हाथ दोनों का ही काम किया। इस काव्य के प्रचार और प्रकाशन में जिन भाईयों ने हमें सहयोग दिया है उन्हें तथा निम्नलिखित सज्जनों को धन्यवाद है:—

श्रीयुत ला० पृथ्वीसिंह जी जैन सर्राफ व बाबू नरेन्द्रकुमार जी जैन बी० ए० देहरादून, श्रीयुत ला० त्रिलोकचन्द जी जैन रईस देहली, श्रीयुत पं० जगमोहनलाल जी कटनी, पं० रमानाथ जी जैन (न्या० व्या० तीर्थ) इन्दौर व भाई पं० परमेष्ठीदास जी (न्यायतीर्थ), श्रीयुत बाबू यशपाल जी जैन बी० ए०, श्रीमान् माननीय राजगोपा-लाचार्यजी, जिन्होंने इस काव्य को ४० मिनट तक सुनने की कृपा की।

हमने अपने अनुवाद में निम्नलिखित अनुवादों का उपयोग किया है—श्रीयुत वी वी० एस० अय्यर का अंग्रेजी अनुवाद, श्रीयुत अज्ञात जी का मराठी अनुवाद और श्रीयुत क्षेमानन्द जी राहत का तामिल वेद। इनके के भी हम बहुत उपकृत हैं।

"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते"

महरौनी (झाँसी) } **गोविन्दराय शास्त्री।**

प्रस्तावना

परिचय और महत्व

'कुरल' तामिल भाषा का एक अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त काव्य-ग्रन्थ है। यह इतना मोहक और कलापूर्ण है कि संसार दो हजार वर्ष से इस पर मुग्ध है। यूरोप की प्रायः सब भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेजी में इसके रेवरेण्ड जी० यू० पोप कवि, वी० वी० एस० अय्यर और माननीय राजगोपालाचार्य द्वारा लिखित तीन अनुवाद विद्यमान हैं।

तामिल भाषा-भाषी इसे 'तामिल वेद' 'पंचम वेद' 'ईश्वरीय ग्रन्थ' 'महान सत्य' 'सर्वदेशीय वेद' जैसे नामों से पुकारते हैं। इससे हम यह बात सहज में ही जान सकते हैं कि उनकी दृष्टि में कुरल का कितना आदर और महत्व है। 'नालदियार' और 'कुरल' ये दोनों जैन काव्य तामिल भाषा के 'कौस्तुभ' और 'सीमन्तक' मणि हैं। तामिल भाषा का एक स्वतन्त्र साहित्य है, जो मौलिकता तथा विशालता में विश्वविख्यात संस्कृत साहित्य से किसी भी भांति अपने को कम नहीं समझता।

कुरल का नामकरण ग्रन्थ में प्रयुक्त 'कुरलवेणवा' नामक छन्द विशेष के कारण हुआ है, जिसका अर्थ दोहा-विशेष है। इस नीति काव्य में १३३ अध्याय हैं, जो कि धर्म (अरम) अर्थ (पोरुल) और काम (इनवम) इन तीन विभागों में विभक्त हैं और ये तीनों विषय विस्तार के साथ इस प्रकार समझाये गये हैं जिससे ये मूलभूत अहिंसा-सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध रहें। पारखी तथा धार्मिक विद्वान् इसे अधिक महत्व इस कारण देते हैं कि इसकी विषय-विवेचन-शैली बड़ी ही सुन्दर, सूक्ष्म और प्रभावोत्पादक है। विषय-निर्वाचन भी इसका बड़ा पाण्डित्यपूर्ण है। मानव जीवन को शुद्ध और सुन्दर बनाने के लिए जितनी विशाल मात्रा मे इसमें उपदेश दिया गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसके अध्ययन से सन्तप्त-हृदय को बहुत शांति और बल मिलता है, यह हमारा निज का भी अनुभव है। एक ही रात्रि में दोनों नेत्र चले जाने के पश्चात् हमारे हृदय को प्रफुल्लित रखने का श्रेय कुरल को ही प्राप्त है। हमारी राय में यह

काव्य संसार के लिए वरदानस्वरूप है। जो भी इसका अध्ययन करेगा वही इस पर निछावर हो जावेगा। हम अपनी इस धारणा के समर्थन में तीन अनुवादकों के अभिमत यहां उद्धृत करते हैं:—

१. डा० पोपका अभिमत—मुझे प्रतीत होता है कि इन पद्योंमें नैतिक कृतज्ञता का प्रबल भाव, सत्य की तीव्रशोध, स्वार्थरहित तथा हार्दिक दानशीलता एवं साधारणतया उज्ज्वल उद्देश्य अधिक प्रभावक हैं। मुझे कभी कभी ऐसा अनुभव हुआ है कि मानो इसमें ऐसे मनुष्यों के लिए भण्डार रूप में आशीर्वाद भरा हुआ है जो इस प्रकार की रचनाओं से अधिक आनन्दित होते हैं और इस तरह सत्य के प्रति क्षुधा और पिपासा की विशेषता को घोषित करते हैं। वे लोग भारत-वर्ष के लोगों में श्रेष्ठ हैं तथा कुरल एवं नालदी ने उन्हें इस प्रकार बनाने में सहायता दी है।

२. श्री वी० वी० एस० अय्यर का अभिमत—कुरलकर्ता ने आचार धर्म की महत्ता और शक्ति का जो वर्णन किया है उससे संसार के किसी भी धर्मसंस्थापक का उपदेश अधिक प्रभावयुक्त या शक्तिप्रद नहीं है। जो तत्त्व इसने बतलाये हैं उनसे अधिक सूक्ष्म बात भीष्म या कौटिल्य कामन्दक या रामदास विष्णुशर्मा या माई० के० वेली ने भी नहीं कही है। व्यवहार का जो चातुर्य इसने बतलाया है और प्रेमी का हृदय और उसकी नानाविधि वृत्तियों पर जो प्रकाश डाला है उससे अधिक पता कालिदास या शेक्सपियर को भी नहीं था।

श्री राजगोपालाचार्य का अभिमत—'तामिल जाति की अन्तरात्मा और उसके संस्कारों को ठीक तरह से समझने के लिए 'त्रिक्कुरल' का पढ़ना आवश्यक है। इतना ही नहीं, यदि कोई चाहे कि भारत के समस्त साहित्य का मुझे पूर्णरूप से ज्ञान हो जाय तो त्रिक्कुरल को बिना पढ़े हुए उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता।

त्रिक्कुरल, विवेक,शुभसंस्कार और मानव प्रकृतिके व्यावहारिक ज्ञान की खान है। इस अद्भुत ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता और चमत्कार यह है कि इसमें मानवचरित्र और उसकी दुर्बलताओं की तह तक विचार करके उच्च आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया

गया है। विचार के सचेत और संयत औदार्य के लिए त्रिक्कुरल का भाव एक ऐसा उदाहरण है कि जो बहुत काल तक अनुपम बना रहेगा। कला की दृष्टि से भी संसार के साहित्य में इसका स्थान ऊँचा है, क्योंकि यह ध्वनि काव्य है, उपमाएँ और दृष्टान्त बहुत ही समुचित रक्खे गये हैं और इस की शैली व्यङ्गपूर्ण है।

कुरलका कर्तृत्व—

भारतीय प्राचीनतम पद्धति के अनुसार यहाँ के ग्रन्थकर्ता ग्रन्थ में कहीं भी अपना नाम नहीं लिखते थे। कारण, उनके हृदय में कीर्तिलालसा नहीं थी, किन्तु लोकहित की भावना ही काम करती थी। इस पद्धति के अनुसार लिखे गये ग्रथों के कर्तृत्व-विषयमें कभी कभी कितना ही मतभेद खड़ा हो जाता है और उसका प्रत्यक्ष एक उदाहरण कुरलकाव्य है। कुछ लोग कहते हैं कि इसके कर्ता 'तिरुवल्लवर' थे और कुछ लोग यह कहते हैं कि इसके कर्ता 'एलाचार्य' थे।

इसी प्रकार कुरलकर्ता के धर्म सम्बन्ध में भी मतभेद है। शैव लोग कहते हैं कि यह शैवधर्म का ग्रन्थ है और वैष्णव लोग इसे वैष्णव धर्म का ग्रन्थ बतलाते हैं। इसके अंग्रेजी अनुवादक डा० पोप ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि 'इसमें संदेह नहीं कि ईसाई धर्मका कुरलकर्ता पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। कुरल की रचना इतनी उत्कृष्ट नहीं हो सकती थी यदि उन्होंने सेन्टटामस से मलयपुर में ईसा के उपदेशों को न सुना होता।' इस प्रकार भिन्न भिन्न सम्प्रदाय वाले कुरल को अपना अपना बनाने के लिए परस्पर होड़ लगा रहे हैं।

इन सबके बीच जैन कहते हैं कि "यह तो जैन ग्रन्थ है, सारा ग्रन्थ "अहिंसा परमो धर्मः" की व्याख्या है और इसके कर्ता श्री एलाचार्य हैं, जिनका कि अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य है।"

शैव और वैष्णवधर्म की साधारण जनता में यह भी लोकमत प्रचलित है कि कुरल के कर्ता अछूत जाति के एक जुलाहे थे। जैन लोग इस पर आपत्ति करते हैं कि नहीं, वे क्षत्री और राजवंशज हैं। जैनों के इस कथन से वर्तमान युग के निष्पक्ष तथा अधिकारी तामिल-भाषा विशेषज्ञ सहमत हैं। श्रीयुत राजाजी-राजगोपालाचार्य

तामिलवेद की प्रस्तावना में लिखते हैं कि—"कुछ लोगों का कथन है कि कुरल के कर्ता अछूत थे, पर ग्रन्थ के किसी भी अंश से या उसके उदाहरण देने वाले अन्य ग्रन्थ-लेखकों के लेखों से इसका कुछ भी आभास नहीं मिलता।" और हमारी रायमें बुद्धि कहती है कि अकेली एक तामिल भाषा का ज्ञाता अछूत कुरल को नहीं बना सकता, कारण कुरल में तामिल प्रांतीय विचारों का ही समावेश नहीं है किन्तु सारे भारतीय विचारों का दोहन है। इसका अर्थशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान कौटिलीय अर्थशास्त्र की कोटि का है। इस ग्रन्थ का रचयिता निःसन्देह बहुश्रुत और बहुभाषा-विज्ञ होना चाहिए, जैसे एलाचार्य थे।

तामिल भाषा के कुछ समर्थ जैनेतर लेखकों की यह भी राय है कि 'कुरल के कर्ता का वास्तविक परिचय अब तक हम लोगों को अज्ञात है, उसके कर्ता तिरुवल्लवर का यह कल्पित नाम भी संदिग्ध है। उनकी जीवन-घटना ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों से अपरिपूर्ण है।'

अन्तःसाक्षी—

अतः हम इन कल्पित दन्तकथाओं का आधार छोड़कर ग्रन्थ की अन्तःसाक्षी और प्राप्त ऐतिहासिक उदाहरणों को लेकर विचार करेंगे,जिससे यथार्थ सत्य की खोज हो सके। जो भी निष्पक्ष विद्वान् इस ग्रंथ का सूक्ष्मता के साथ परीक्षण करेगा उसे यह बात पूर्णतः स्पष्ट हुए विना नहीं रहेगी कि यह ग्रन्थ शुद्ध अहिंसाधर्म से परिपूर्ण है और इसलिए यह जैन मस्तिष्क की उपज होना चाहिए। श्रीयुत् सुब्रह्मण अय्यर अपने अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना मे लिखते हैं कि 'कुरलकाव्य का मंगलाचरण वाला प्रथम अध्याय जैनधर्म से अधिक मिलता है।'

फूल भले ही यह न कहे कि मैं अमुक वृक्ष का हूँ, फिर भी उसकी सुगन्धि उसके उत्पादक वृक्ष को कहे विना नही रहती; ठीक इसी प्रकार किसी भी ग्रंथ के कर्ता का धर्म हमें भले ही ज्ञात न हो पर उसके भीतरी विचार उसे धर्म विशेष का घोषित किये विना न रहेंगे। लेकिन इन विचारों का पारखी होना चाहिए। यदि जैनेतर

विद्वान् जैनवाङ्मय के ज्ञाता होते तो उन्हें कुरल को जैनाचार्यकृत मानने में कभी देरी न लगती। ग्रन्थकर्ता ने जैन भाव इस काव्य में कलापूर्ण ढंग से लिखे हैं, उनको ये लोग जैनधर्म से ठीक परिचित न होने के कारण नहीं समझ सके हैं। कुरल की सारी रचना जैन मान्यताओं से परिपूर्ण है। इतना ही नहीं, किन्तु उसका निर्माण भी जैन पद्धति को लिये हुए हैं। इसका कुछ दिग्दर्शन हम यहां कराते हैं।

इसमें किसी वैदिक देवता की स्तुति न देकर जैनधर्म के अनुसार मंगलकामना की गई है। जैनियों में मंगल-कामना करने की एक प्राचीन पद्धति है, जिसका मूल यह सूत्र है कि "चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।" अर्थात् चार हमारे लिये मंगलमय हैं—अरहंत,सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ प्रणीत धर्म। देखिए 'ईश्वरस्तुति' नामक प्रथम अध्याय में प्रथम पद्य से लेकर सातवें तक अरहन्त स्तुति है और आठवें में सिद्धस्तुति है। नवमें और दशवें में साधु के विशेष भेद-आचार्य और उपाध्याय की स्तुति है।

सम्राट् मौर्य चन्द्रगुप्त के समय उत्तर भारत में १२ वर्ष का एक बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण साधुचर्या कठिन हो गई थी। अत: श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में आठ हजार मुनियों का संघ उत्तर भारत से दक्षिण भारत चला गया था। मेघवर्षा के बिना साधुचर्या नहीं रह सकती, यह भाव उस समय सारी जनता में छाया था, इसलिए कुरल के कर्ता ने उसी भाव से प्रभावित होकर 'मुनि-स्तुति' नामक तृतीय अध्याय के पहिले 'मेघ महिमा' नामक द्वितीय अध्याय को लिखा है। साधुस्तुति के पश्चात् चौथे अध्याय में मंगलमय धर्म की स्तुति की गई।

ईश्वरस्तुति नामक प्रथम अध्याय के प्रथम पद्य में 'आदिपकवन' शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है 'आदि भगवान' जो कि इस युग के प्रथम अरहन्त भगवान आदीश्वर ऋषभदेव का नाम है। दूसरे पद्य में उनकी सर्वज्ञता का वर्णन कर पूजा के लिए उपदेश दिया गया है। तीसरे पद्यमें 'मलर्मिशै' अर्थात् कमलगामी कहकर उनकी अरहंत अवस्था के एक अतिशय का वर्णन है। चौथे पद्य में उनकी वीत-

रागता का व्याख्यान कर, पाँचवें पद्य में गुणगान करने से पापकर्मों का क्षय कहा गया है, छठे पद्यमें उनसे उपदिष्ट धर्म तथा उसके पालन का उपदेश दिया गया है। और सातवें में उपर्युक्त देव की शरण में आने से ही मनुष्य को सुख शांति मिल सकती है ऐसा कहा है। जैन धर्म में सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण माने गये हैं, इसलिए सिद्धस्तुति करते हुए आठवें पद्य में उनके आठ गुणों का निर्देश किया गया है।

जैनधर्म में पृथ्वी वातवलय से वेष्टित बतलाई गई है। कुरल में भी पच्चीसवें अध्याय के पाँचवें पद्य में दया के प्रकरण में कहा गया है—'क्लेश दयालु पुरुष के लिए नहीं है, भरी पूरी वायु वेष्टित पृथ्वी इस बात की साक्षी है।'

सत्य का लक्षण कुरलमें वही कहा गया है जो जैनधर्म को मान्य है—'ज्यों की त्यों बात कहना सत्य नही है किंतु समीचीन अर्थात लोक हितकारी बात का कहना ही सत्य है, भले ही वह ज्यों त्यों न हो।'

नहीं किसी भी जीव को जिससे पीड़ा कार्य।
सत्य वचन उसको कहें, पूज्य ऋषीश्वर आर्य ॥१॥

वैदिक पद्धति में जब वर्णव्यवस्था जन्ममूलक है तब जैन पद्धति में वह गुणमूलक है। कुरल में भी गुणमूलक वर्णव्यवस्था का वर्णन है—'साधु-प्रकृति-पुरुषों को ही ब्राह्मण कहना चाहिए, कारण वे ही लोग सब प्राणियों पर दया रखते हैं।'

वैदिक वर्णव्यवस्था में कृषि शूद्र का ही कर्म है, तब कुरल अपने कृषि अध्याय में उसे सबसे उत्तम आजीविका बताता है; क्योंकि अन्य लोग पराश्रित तथा परपिण्डोपजीवी हैं। जैन शास्त्रानुसार प्रत्येक वर्ण वाला व्यक्ति कृषि कर सकता है।

उनका जीवन सत्य जो, करते कृषि उद्योग।
और कमाई अन्य की, खाते बाकी लोग ॥

जैन शास्त्रों में नरकों को 'विवर' अर्थात बिलरूप में तथा मोक्ष स्थान को स्वर्गलोक के ऊपर माना है। कुरल में ऐसा ही वर्णन है; जैसा कि उसके पद्यों के निम्न अनुवाद से प्रकट है—

जीवन में ही पूर्व से, कहे स्वयं अज्ञान।
अहो नरक का छुद्र बिल, मेरा भावी स्थान ॥

'मेरा' मै ? के भाव तो, स्वार्थ गर्व के थोक।
जाता त्यागी है वहाँ, स्वर्गोपरि जो लोक ॥

सागारधर्मामृत के एक पद्य में पं० आशाधर जी ने प्राचीन जैन परम्परा से प्राप्त ऐसे चौदह गुणों का उल्लेख किया है जो, गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने वाले नर-नारियों में परिलक्षित होने चाहिए। वह पद्य इस प्रकार हैं—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योऽन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

हम देखते हैं कि इन चौदह गुणों की व्याख्या ही सारा कुरलकाव्य है।

ऐताहासिक बाहरी साक्षी—

१. **शिलप्पदिकरम्**—यह एक तामिल भाषा का अति सुन्दर प्राचीन जैनकाव्य है। इसकी रचना ईसा की द्वितीय शताब्दी में हुई थी। यह काव्य, कला की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही साथ ही तामिल जाति की समृद्धि, सामाजिक व्यवस्थाओं आदि के परिज्ञान के लिए भी बड़ा उपयोगी है; और प्रचलित भी पर्याप्त है। इसके रचयिता चेरवंश के लघु युवराज राजर्षि कहलाने लगे थे। इन्होंने अपने शिलप्पदिकरम् में कुरलके अनेक पद्य उद्धरण में देकर उसे आदरणीय जैनग्रन्थ माना है।

२. **नीलकेशी**—यह तामिल भाषा में जैनदर्शन का प्रसिद्ध प्राचीन शास्त्र है। इसके जैन टीकाकार अपने पक्ष के समर्थन में अनेक उद्धरण बड़े आदर के साथ देते हैं, जैसे कि 'इम्मोट्टू' अर्थात् हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ कुरल में कहा है।

३. **प्रबोधचन्द्रोदय**—यह तामिल भाषा में एक नाटक है, जोकि संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय के आधार पर शंकराचार्य के एक शिष्य द्वारा लिखा गया है। इसमें प्रत्येक धर्म के प्रतिनिधि अपने अपने धर्म ग्रन्थ का पाठ करते हुए रंगमंच पर लाये गये हैं। जब एक निर्ग्रन्थ जैन मुनि स्टेज पर आते हैं तब वह कुरल के उस विशिष्ट

पद्य को पढ़ते हुए प्रविष्ट होते हैं जिनमें अहिंसा सिद्धान्त का गुणगान इस रूप में किया गया है:—

सुनते हैं बलिदान से, मिलतीं कई विभूति।
वे भव्यों की दृष्टि में, तुच्छघृणा की मूर्ति॥

यहाँ यह सूचित करना अनुचित नहीं है कि नाटककार की दृष्टि में कुरल विशेपतया जैनग्रन्थ था, अन्यथा वह इस पद्य को जैन सन्यासी के मुख से नहीं कहलाता।

इस अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साक्षी से इस विषय में सन्देह के लिए प्राय: कोई स्थान नहीं रहता कि यह ग्रन्थ एक जैनकृति है। निस्सन्देह नीति के इस ग्रन्थ की रचना महान् जैन विद्वान् के द्वारा विक्रम की प्रथम शताब्द के लगभग इस ध्येय को लेकर हुई है कि अहिंसा सिद्धान्त का उसके सम्पूर्ण विविधरूपों में प्रतिपादन किया जावे।

कुरल पर प्रभाव

जिस ग्रन्थका कुरल पर प्रभाव पड़ा है वह है 'नलदियार' दोनोंका ही नामकरण छन्द विशेप के कारण पड़ा है। कुरल के समान नालदी भी तामिल भापा का एक विशिष्ट छन्द है। 'कुरल' और 'नालदी' ये ग्रन्थ आपस में टीका का काम करते हैं। दोनों ही नीति विपयक काव्य हैं तथा उनकी विषय-विवेचन-शैली भी ऐसी है कि जिससे धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुपार्थ मूल अहिंसा धर्म से सम्बद्ध रहें। इसीलिए दोनों ग्रन्थों में विपरीत विचारों की आलोचना के साथ ही अहिंसा के विविध अंगों का वर्णन किया गया है। तामिल भापा के महा विद्वानों का कथन है कि 'कुरल' और 'नालिदी' नीति के १८ काव्यों में एक विशिष्ट महत्व का स्थान रखते हैं। तामिल सरस्वती का समस्त श्रृङ्गार इन दो काव्यों में ही निहित है।

नलदियार कुरल से पूर्ववर्ती है। उसकी रचना इससे पूर्व ३०० वर्ष पहिले आठ हजार जैन मुनियों ने मिलकर की थी। खेद है कि ८ हजार पद्यों में से अब केवल चार सौ पद्य ही रह गये हैं। अन्य पद्य कैसे नष्ट हो गये, इसकी एक विशिष्ट ऐतिहासिक कथा वृद्ध-परम्परा से चली आती है, कि—

जब चन्द्रगुप्त मौर्य के समय उत्तर भारत में १२ वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तब आठ हजार मुनियों का संघ अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत गया। और वहां जाकर पाण्ड्य नरेश के रक्षण में ठहरा। पाठक ऐतिहासिक शोधों से देखेंगे कि दक्षिण में पाण्ड्य, चोल और चेर नामक बड़े सुदृढ़ और समृद्ध राज्य विद्यमान थे। अशोक के शिलालेखों में इनको पराजित राज्यों की श्रेणी में न लिखकर मित्र राज्यों की श्रेणी में लिखा गया है। दुर्भिक्ष का समय निकल जाने पर इन मुनियों ने उत्तर भारत लौट जाने की जब चर्चा चलाई तब स्नेही पाण्ड्य नरेश ने उनको न जाने का ही आग्रह किया। इस समय इन मुनियों के प्रधान नेता विशाखाचार्य थे, जिनकी स्मृति में आज भी दक्षिण मे विजगापट्टम अर्थात् विशाख पट्टम अवस्थित है। विशाखाचार्य को अन्य लेखकों ने ज्ञान का कल्प-वृक्ष लिखा है। इस अगाध पाण्डित्य के कारण ही पाण्ड्यराजा को इनकी जुदाई पसन्द न थी, फिर भी मुनिगण न माने और उन्होंने एक एक विषय पर दश दश मुनियों का विभाग करके अपने जीवन के अनुभव का सार-स्वरूप एक एक पद्य ताड़पत्र पर लिखकर वहाँ छोड़ दिया और चुपचाप चल दिये।

पाण्ड्यपति को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने क्रोधा-वेश में आकर उन ताड़पत्रों को वैगी नदी में फिकवा दिया, किन्तु प्रवाह के विरुद्ध जब ये चार सौ पत्र किनारे पर आ लगे तब राजा की ही आज्ञा से ये संगृहीत कर लिये गये और उन्हीं की आज्ञा से वर्तमान व्यवस्थित रूप हुआ।

मूल नलदियार में एक स्थल पर 'मुत्तरियर' शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है 'मुक्ता नरेश' अर्थात् मोतियों के राजा। प्राचीन समय में पाण्ड्य राज्य के बन्दरगाहों से बहुत मोती निकाले जाते थे। जिनका व्यापार केवल भारत में ही नहीं किन्तु रोम तक होता था। इसी कारण पाण्ड्य राज्य के अधीश्वर मोतियों के राजा कहलाते थे। इस प्रकार 'मुत्तरियर' शब्द ही उक्त कथा के ऊपर प्रकाश डालता है। कुरल और नलदियार के बनते समय तामिल जनता के ऊपर जैनधर्म की इतनी गहरी छाप थी कि वह धर्म का नामकरण 'अरम' अर्थात्

अहिंसा और पाप का नामकरण 'पोरम' अर्थात् हिंसा से करती थी। नलदियार संस्कृत भापा में न होकर जनता की भापा में है, इसलिए कुछ लोग इसको 'वेल्लार-वेदम्' भी कहते हैं। जिसका अर्थ है किसानों का वेद ।

वर्तमान साहित्य का जब जन्म ही नहीं हुआ था तब जैनों ने कई सहस्र वर्ष पहिले समीचीन अर्थात् सही ज्ञान देने वाले सार्व-जनिक साहित्य को संसार के सामने उपस्थित किया था और यह साहित्य तामिल भापा में है, जिसका हम यहाँ दिग्दर्शन कराते हैं।

तामिल भापा में अन्य महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थ

१. **टोलकाप्पियम्**—यह तामिल भापा का अति प्राचीन विस्तृत और व्यवस्थित व्याकरण है। भारतके प्रसिद्ध आठ वैयाकरणों में जिसका प्रथम नाम आता है उस इन्द्र के व्याकरण के आधार पर यह तामिल भापा का व्याकरण लिखा गया है। खेद है कि यह इन्द्र का व्याकरण अब संसार से लुप्त हो गया है। टोलकाप्पियम के उदाहरणों से तामिल देश की सभ्यता और समृद्धि का बोध होता है। 'प्रतिमायोग' जीवोंके इन्द्रीविभाग आदि, जैन-विज्ञान के उदाहरण देने से ज्ञात होता है कि इसका रचयिता जैन विज्ञान से पूर्णपरिचित था।

२. **शिलप्पदि करम**—इस महा काव्य की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।

३. **जीवक चिन्तामणि**—तामिल भापा के पांच महाकाव्यों में इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण गौरव प्राप्त है। इसकी इतनी अधिक सुन्दर रचना है कि इसके एक प्रेमी ने यहा तक लिखा था कि यदि कोई चढ़ाई करके तामिल देश की सारी समृद्धि ले जाना चाहे तो भले ही ले जाए, पर 'जीवक चिन्तामणि' को छोड़ दे ।

४. **अरनेरिच्चारम्**—'सधर्ममार्गसार' के रचयिता तिरुमु-नैप्पादियार नामक जैन विद्वान् हैं। यह अन्तिम संगमकाल में हुए थे। इस महान् ग्रन्थ मे जैनधर्म से सम्बन्धित पाँच सदाचारों का वर्णन है ।

५. **पलमोलि अथवा सूक्तियां**—इसके रचयिता मुनरुनैयार अरैयानार नामक जैन हैं। इनमें नलदियार के समान वेणवावृत्त में ४०० पद्य हैं। इसमें वहुमूल्य पुरातन सूक्तियां हैं, जो न केवल सदाचार के नियम ही वताती हैं बल्कि वहुत अंश में लौकिक वुद्धिमत्ता से परिपूर्ण हैं। तामिल के नीति विपयक अष्टादश ग्रन्थों में कुरल-नालदियार के बाद इसका तीसरा नम्बर है।

६. **तिनैमालैनूरैम्वतु**—इसके रचयिता कणिमेदैयार हैं। यह जैन लेखक भी संगम के कवियों में अन्यतम हैं। यह ग्रन्थ शृङ्गार तथा युद्ध के सिद्धान्तों का वर्णन करता है।

७. **'नान्मणिक्कडिगे'** अर्थात् रत्नचतुष्टय प्रापक है। इसके लेखक जैन विद्वान् विलम्बिनथर हैं। यह वेणवा छन्द में हैं। प्रत्येक पद्य में रत्नतुल्य सदाचार के नियम चतुष्टय का घर्णन है।

८. **एलाति**—यह ग्रन्थ अपने अर्थ से इलायची, कर्पूर, इरीकारम् नामक सुगन्धित काष्ठ, चन्दन तथा मधु के सुगन्धपूर्ण संग्रह को घोपित करता है। ग्रन्थ के इस नामकरण का कारण यह है कि इसके प्रत्येक पद्य में ऐसे ही सुरभिपूर्ण पांच विषयों का वर्णन है। इसके कर्ता का नाम कणिमेडियार है, जो कि जैनधर्म के उपासक थे। इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा सव पंडित एक स्वर से करते हैं। अव हम इस विषय में और कुछ न लिखकर अन्त में यही कहेंगे कि ये सव महान् जैन ग्रन्थ हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के पहिले के वने हुए हैं, इसलिए इन्हें सातवीं सदी के पूर्ववर्ती मानना चाहिए।

(१) तामिल जनता में प्राचीन परम्परा से प्राप्त जनश्रुति चली आती है कि कुरलका सबसे प्रथम पारायण पांड्यराज 'उग्रवेरुवज्वदि' के दरवार मे मदुरा के ४६ कवियों के समक्ष हुआ था। इस राज का राज्यकाल श्रीयुत एम श्रीनिवास अय्यङ्गर ने १२५ ईस्वी के लगभग सिद्ध किया है।

(२) जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि ईस्वी सन से पूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण पाटलिपुत्र में द्रविड़संघ के प्रमुख श्री कुन्दकुन्दाचार्य अपर नाम एलाचार्य थे। इसके अतिरिक्त जिन प्राचीन पुस्तकों में

कुरल का उल्लेख आया है उनमें सबसे प्रथम अधिक प्राचीन 'शिलप्पदिकरम्' नाम का जैनकाव्य और मणिमेखले' नामक बौद्धकाव्य हैं। दोनों का कथा-विषय एक ही है तथा दोनों के कर्ता आपस में मित्र थे। अतः दोनों ही काव्य सम-सामयिक हैं और दोनों में कुरल काव्य के छठे अध्याय का पांचवाँ पद्य उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनों में कुरल के नाम के साथ ५४ श्लोक और उद्धृत हैं। "शिलप्पदिकरम्" तामिल भाषा के विद्वानों का इतिहासकाल जानने के लिए सीमानिर्णायक का काम करता है और इसका रचनाकाल ऐतिहासिक विद्वानों ने ईसाकी द्वितीय शताब्दी माना है।

(३) यह भी जनश्रुति है कि तिरुवल्लुवर का एक मित्र एलेलाशिङ्गन नाम का एक व्यापारी कप्तान था। कहा जाता है कि यह इसी नामके चोलवंश के राजा का छठा वंशज था, जो लगभग २०६० वर्ष पूर्व राज्य करता था और सिंहलद्वीप के महावंश से मालूम होता है कि ईसासे १४० वर्ष पूर्व उसने सिंहलद्वीप पर चढ़ाई कर उसे विजय किया और वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इस शिङ्गन और उक्त पूर्वज के बीच में पाँच पीढ़ियाँ आती हैं और प्रत्येक पीढ़ी ५० वर्ष की मानें तो हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एलेलाशिङ्गन ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में थे।

बात असलमें यह है कि एलाचार्य का अपभ्रंश एलेलाशङ्गिग हो गया है। यह एलेलाशिङ्गन और कोई नहीं एलचार्य ही हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ऐलक्षत्रियों के वंशधर थे, इसलिए इनका नाम एलाचार्य था।

इन पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर हमने कुरलकाव्य का रचनाकाल ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी निश्चित किया है और यही समय अन्य ऐतिहासिक शोधों से श्री ऐलाचार्य का ठीक बैठता है। मूलसंघ की उपलब्ध दो पट्टावलियां में तत्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति के पहिले श्री एलाचार्य का नाम आता है और यह भी प्रसिद्ध है कि उमास्वाति के गुरु श्री एलाचार्य थे। अतः कुरल की रचना तत्वार्थसूत्र के पहले की है। यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

कुरल-कर्ता कुन्दकुन्द (एलाचार्य)

विक्रम सं० ६६० में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के साथ उनके अन्य चार नामों का उल्लेख करते हैं:—

पद्मनन्दि[1], वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य।

श्री कुन्दकुन्द के गुरु द्वितीय भद्रबाहु थे ऐसा बोधप्राभृत की निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होता है—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥

ये भद्रबाहु द्वितीय नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण से ४६२ वर्ष बाद हुए हैं।

कुरलकर्ता के अन्य ग्रन्थ तथा उनका प्रभाव

कुरल का प्रत्येक अध्याय अध्यात्म-भावना से ओतप्रोत है, इसलिए विज्ञपाठक के मनमें यह कल्पना सहज ही उठती है कि इस के कर्ता बड़े अध्यात्मरसिक महात्मा होंगे। और जब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि इसके रचयिता वे एलाचार्य हैं जो कि अध्यात्म-चक्रवर्ती थे तो यह कल्पना यथार्थता का रूप धारण कर लेती है; कारण एलाचार्य जिनका कि अपर नाम कुन्दकुन्द है ऐसे ही अद्वितीय ग्रन्थों के प्रणेता हैं।

उनके समयसारादि ग्रन्थों को पढ़े विना कोई यह नहीं कह सकता कि मैंने पूरा जैन तत्वज्ञान अथवा अध्यात्मविद्या जान ली। जिस सूक्ष्म तत्व की विवेचनशैली का आभास उनके मुनि जीवनसे पहले रचे हुए कुरलकाव्य से होता है वह शैली इन ग्रन्थों में बहुत

---

१. पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ, जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः।
ततोऽभवत् पंच सुनामधामा, श्री पद्मनन्दी मुनिचक्रवर्त्ती ॥
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो-गृद्धपृच्छः पद्मनन्दी वितायते ॥
(मूलसंघ की पट्टावलि)

ही अधिक परिस्फुट हो गई है। ये ग्रन्थ ज्ञानरत्नाकर हैं, जिनसे प्रभावित होकर विविध विद्वानों ने यह उक्ति निश्चित की है "—न हैं न होएँगे मुनीन्द्र कुन्दकुन्द से।"

पीछे के ग्रन्थकारों ने या शिलालेख लिखने वालों ने कुन्दकुन्द को 'मूलसंघव्योमेन्दु, मुनींद्र, मुनिचक्रवर्ती' पदों से भूषित किया है। इससे हम सहज में ही यह जान सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व कितना गौरवपूर्ण है। दिगम्बर जैनसंघ के साधुजन अपने को कुन्दकुन्द आम्नाय का घोषित करने में सम्मान समझते हैं। वे शास्त्र-विवेचन करते समय प्रारम्भ में यह अवश्य पढ़ते हैं कि—

'मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी:।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥'

इनके रचे हुए चौरासी प्राभृत (शास्त्र) सुने जाते हैं, पर अब वे पूरे नहीं मिलते। प्राय. नीचे लिखे ग्रन्थ ही मिलते हैं-(१) समयसार (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) अष्टपाहुड़, (५) नियमसार, (६) द्वादशानुप्रेक्षा, (७) रयणसार। ये सब ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं और प्राय: सब ही जैनशास्त्रभण्डारों में मिलते हैं।

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने कोण्डकुन्दपुर में रहकर षट्खण्डागम पर बारह हजार श्लोक परिमित एक टीका लिखी थी जो अब दुष्प्राप्य है। समयसार ग्रन्थ पर विविध भाषाओं में अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। हिन्दी के प्राचीन महाकवि पं० बनारसीदास जी ने इसके विषय में लिखा है कि "नाटक पढ़त हिय फाटक खुलत है" समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ये तीनों ग्रन्थ विज्ञसमाज में नाटकत्रयी नाम से प्रसिद्ध हैं और तीनों ही ग्रन्थ नि:सन्देह आत्मज्ञान के आकर हैं।

इन सब ग्रन्थों के पठन पाठन का यह प्रभाव हुआ कि दक्षिणा पथ से उत्तरापथ तक आचार्यकी उज्ज्वल कीर्ति छागई और भारतवर्ष में वे एक महान् आत्मविद्या के प्रसारक माने जाने लगे, जैसा कि श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरिस्थ निम्नलिखित शिलालेख से प्रकट होता है—

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयिकीर्ति--विभूषिताशः ।
यश्चारु--चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥५॥

तपस्या के प्रभाव से श्री कुन्दकुन्दाचार्य को 'चारण-ऋद्धि' प्राप्त हो गई थी, जिसका कि उल्लेख श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है। तीन का उद्धरण हम यहाँ देते हैं।

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दी प्रथमाभिधानः ।
श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गत चारणर्द्धिः ॥
श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

इन सब विवरणों को पढ़कर हृदय को पूर्ण विश्वास होता है कि ऐसे ही महानग्रन्थकारकी कलमसे कुरलकी रचना होनी चाहिए।

कुरलकर्ता का स्थान—

इस वक्तव्य को पढ़कर पाठकों के मन में यह विचार उत्पन्न अवश्य होगा कि कुरल आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री एलाचार्य का दक्षिण में वह कौनसा स्थान है जहां पर बैठकर उन्होंने इन ग्रन्थों का अधिकतर प्रणयन किया था। इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए हमें नीचे लिखा हुआ पद्य देखना चाहिए:—

दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत् ।
एलाचार्यो नाम्ना द्रविडगणाधीश्वरो धीमान् ॥

यह श्लोक एक हस्तलिखित 'मन्त्रलक्षण' नामक ग्रन्थमें मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त में हेमग्राम के निवासी थे, और द्रविड़संघ के अधिपति थे। यह हेमग्राम कहाँ है इसकी खोज करते हुए श्रीयुत मल्लिनाथ चक्रवर्ती एम० ए० एल० टी० ने अपनी प्रवचनसार की प्रस्तावना में लिखा है कि—मद्रास प्रेसीडेन्सी के मलाया प्रदेशमें 'पोन्नूरगांव' को ही प्राचीन

समयमें हेमग्राम कहते थे और सम्भवत: यही कुण्डकुन्दपुर है। इसी के पास नीलगिरि पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हैं, जहाँ पर बैठकर वे तपस्या करते थे। आस पास की जनता आज भी ऐसा ही मानती है और बरसात के दिनों में उनकी पूजा के लिए वहाँ एक मेला भी प्रतिवर्ष भरता है। श्रीयुत स्व. जैनधर्म भूषण ब्र० शीतल-प्रसाद जी ने भी इसके दर्शन कर जैन मित्र में ऐसा ही लिखा था।

देश की तात्कालिक स्थिति—

जब हम कुरल की रचना के समय देश की तात्कालिक स्थिति पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि सारा देश उस समय ऋद्धि सिद्धि से भरपूर था। इतिहास से ज्ञात होता है कि उस समय जैनधर्म कलिङ्ग की तरह; तामिल देश में भी राष्ट्रधर्म था। उसके प्रभाव से राजघरानों में भी शिक्षा और सदाचार पूर्णरूपेण विद्यमान था। अध्यात्म विद्या के पारगामी क्षत्री राजा बनने में उतनी प्रतिष्ठा व सुख नहीं मानते थे जितना कि राजर्षि बनने में, जिसके उदाहरण आचार्य समन्तभद्र (पाण्ड्यराज्य की राजधानी उरगपुरके राजपुत्र) शिलप्पदिकरम के कर्ता युवराज राजर्षि (चेर राजपुत्र) और एलाचार्य हैं। उस समय क्षत्रियगण शासक और शास्ता दोनों थे। स्वतन्त्र व धार्मिक भारत उस समय कैसे दिव्य विचार रखता था इसकी बानगी के लिए कुरल अच्छा काम देता है।

—गोविन्दराय शास्त्री।

यदि पङ्कजमध्ये वससि, हे जगदम्ब तदैव।
तव वसतिर्मम मानसे, पङ्कमयेऽप्युचितैव॥
विधेर्निर्दयशापेन दृष्टिर्विफलतां गता।
अतोऽन्तर्दृष्टिलाभेन काव्यमेतद् वितन्यते॥

सम्मतियाँ

वीणानिनाद इव श्रोत्रमनोहरश्रीर्भव्यप्रभातमिव सुप्तविबोधदक्षः ।
सत्सङ्गमः सुहृदिव प्रतिमार्तिवर्ती दिष्टादुदेति कृतिनां कविताकलापः ॥
सत्सारसैः सततसेवितपादपद्मः सद्मामलं किमपि वाचि विदग्धतायाः ।
गोविन्दरायरचितः कवितविलासो जीयाच्चिरं कुरलकाव्यकलाश्रितश्रीः ॥

झाँसीमण्डलमण्डन सहृदय विद्वद्वर पं॰ गोविन्दरायविरचित संस्कृत-हिन्दीकाव्यपरिणत तामिलभाषानिबद्ध कुरल महाकाव्य को मैंने घण्टों सतृष्ण हृदय से सुना। वह प्रसन्नव्युत्पत्ति-सम्पत्तिसंभृत सुन्दर और मनोहर रचना तथा उसकी एकान्तनिष्ठा है।

इस अनुपम काव्य से भारतीय नवयुवकों को उत्साह, कर्तव्य-परायणता, जागरण और सदुपदेश का अभ्यर्थनीय लाभ होगा। मैं इस काव्य का दिनोंदिन अभ्युदय और भारतीय प्रबुद्ध समाज में व्यापक प्रचार का पूर्ण समर्थन हार्दिक भावना से करता हूँ।

दिनाङ्क
२८-१०-४५
रविवार

महादेव शास्त्री पाण्डेय
न्यायव्याकरण, साहित्याचार्य, कवि-तार्किक-चक्रवर्ती
अध्यक्ष—साहित्य विभाग, ओरिएण्टल कॉलेज
काशी विश्वविद्यालय

प्रज्ञाचक्षु पं० श्री गोविन्दराय शास्त्री ने तामिल वेद कुरल काव्य का हिन्दी और संस्कृत पद्यमय अनुवाद किया है, उसको मैंने सुना। तामिल भाषा के श्रेष्ठ ग्रन्थरत्न का आस्वादन सारे देश को कराने के दो ही साधन हैं— संस्कृत और हिन्दुस्तानी। दोनों के द्वारा कुरल का परिचय कराके पंडित जी ने देश की अच्छी सेवा की है।

कुण्डेश्वर, टीकमगढ़
११-६-४६

— काका कालेलकर।

प्रसन्नता हुई, आपने सरल और ललित संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में त्रिरुकुरल तैमिल ग्रन्थकी रचना सुनाई। आपको इसमें बड़ा आनन्द मिलता होगा तथा सहारा हो गया है। इसके पाठ से विषयवासना की प्रवृत्ति से मन छूटता और आन्तरिक जगतका आनन्द मिलता है।

काशी विश्वविद्यालय
५-१०-४५

— मदनमोहन मालवीय।

कुरल काव्य तामिल भाषा के छन्दों मे है। इसके रचयिता श्री १००८ कुन्दकुन्दाचार्य हैं। आपके द्वारा समयसारादि ८४ पाहुडों की रचना हुई है, जिनके द्वारा वर्तमान समय में गणधरदेव सदृश उपकार हो रहा है।

उनके द्वारा रचित कुरल ग्रन्थ का अनुवाद संस्कृत तथा भाषा छन्द तथा भाषा गद्य में श्रीमान् पं० गोविन्दराय शास्त्री ने महान् परिश्रम के साथ किया है, जिसको पढ़कर मनुष्यमात्र आत्मीय कर्तव्य को जान सकता है।

क्षेत्रपाल, ललितपुर
भादों वदी १२ सं. २००८

गणेश वर्णी।

कुरल का हिन्दी और संस्कृत दोनों अनुवाद कुछ कुछ देख गया, प्रसन्नता हुई। यह ग्रन्थ नीति और धर्मबोध की उत्तम शिक्षा देगा। इसके अलावा दक्षिण और उत्तर भारत को जोड़ने में मदद देगा। भारत देश की सांस्कृतिक एकता कितनी गहरी है यह इसके अवलोकन से लोगों के दिलों में स्पष्ट हो जायगी। संस्कृत का मद्रास में बहुत प्रचार होगा। हिन्दी तो उत्तर और दक्षिण दोनों में विजयशाली हो सकेगी। आपके परिश्रम के लिए धन्यवाद है।

महरौनी
१०–१०–५१

—विनोवा।

श्रीमान् विद्वद्वर्य गोविन्दराय जी शास्त्री करके अनूदित तामिल कुरल काव्यके कतिपय छन्दोंको श्रवण कर हृदय आल्हादपूर्ण हुआ। हिन्दीप्रसार के इस युग में अतीव प्राचीन अनुभवपूर्ण विद्वत्कृतियों की प्रभावना शास्त्रीसदृश उद्भट विद्वानों करके ही हो सकती है। हिन्दी भाषा के गरीयत्व को यह रचना पुष्ट करती है।

सहारनपुर
वैशाख कृ. १२ सं. २००५

स्नेहानुरक्तमना:
माणिकचन्द: कौन्देय: न्यायाचार्य:

परिच्छेदः १

ईश्वरस्तुतिः

'अ' वर्णो वर्तते लोके शब्दानां प्रथमो यथा ।
तथादिभगवानस्ति पुराणपुरुषोत्तमः ॥१॥

यदि नो यजसे पादौ सर्वज्ञपरमेष्ठिनः ।
अखिलं तर्हि वैदुष्यं मुधा ते शास्त्रकीर्तने ॥२॥

वर्तेते पावनौ पादौ स्वर्णाम्भोजविहारिणः ।
शरण्यौ हृदये यस्य स नूनं चिरमेधते ॥३॥

वीतरागस्य देवस्य रक्तः पादारविन्दयोः ।
यो धन्यः स पुमाँल्लोके दुःखी न स्यात् कदाचन ॥४॥

उत्साहेन समायुक्ता नित्यं गायन्ति ये प्रभोः ।
गुणान्, भवन्ति ते नैव कर्मदुःखोपभोगिनः ॥५॥

आत्मना जयिना तेन यो धर्माध्वा प्रदर्शितः ।
तं नित्यं येऽनुगच्छन्ति ते नूनं दीर्घजीविनः ॥६॥

दुःखजालसमाकीर्णेऽगाधे संसारसागरे ।
कृच्छ्रान्मुक्तः स एवास्ति यस्यैकः शरणं प्रभुः ॥७॥

धर्मसिन्धोर्मुनीशस्य लीना ये पदकंजयोः ।
त एव तरितुं शक्ताः क्षुब्धं तारुण्यवारिधिम् ॥८॥

निष्क्रियेन्द्रियसंकाशा[1] मानवास्ते महीतले ।
पादद्वयं नमस्यन्ति[2] ये नाष्टगुणधारिणः ॥९॥

जन्ममृत्युमहाम्भोधेः पारं गच्छन्ति ते जनाः ।
पावनौ शरणं येषां योगीन्द्रचरणौ ध्रुवम् ॥१०॥

---

१ तुल्याः   २ नमस्कुर्वन्ति

परिच्छेदः २

मेघमहिमा

यथासमयसंजाता वृष्टिर्यस्योपकारिणी ।
वारिवाहः सुधारूपस्तेनेदं वर्तते जगत् ॥१॥

सर्वस्वादिष्टखाद्यानां मूलं जलद उच्यते ।
नेदमेव स्वयं वारि भोजनाङ्गं प्रतिष्ठितम् ॥२॥

मेघवृष्टिं विना लोके दुर्भिक्षं संप्रजायते ।
समन्तात् सागरैर्युक्ता भूरपि स्यात् प्रपीडिता ॥३॥

जीवनाधारभूतानि स्वर्गस्रोतांसि वारिदाः ।
विलीनाश्चेत् कृषिं नूनमहास्यन् हलजीविनः ॥४॥

अतिवृष्टिवलाज्जाताः क्षीणा ये किल मानवाः ।
समृद्धास्ते हि भूयोऽपि जायन्ते वारिवर्षणात् ॥५॥

खात् पतन्ती पयोवृष्टिर्विरता चेत् कदाचन ।
तृणजन्मविलुप्तिः स्यादन्येषां दूरगा कथा ॥६॥

वीभत्सदारुणावस्था जायेताहो सरित्पतेः ।
तज्जलस्य ग्रहोत्सर्गौ न कुर्याच्चेत् पयोधरः ॥७॥

देवानां परितोषाय सपर्या पंक्तिभोजनम् ।
सर्वाण्येतानि लुप्यन्ते विलुप्ते व्योम्नि वारिदे ॥८॥

दानिनां दानकर्माणि शूराणां चैव शूरता ।
जपहोमक्रियाः सर्वा नष्टा नष्टे वलाहके ॥९॥

संभवन्ति समस्तानि कार्याणि जलदागमे ।
सदाचारोऽपि तेनैव विदुषामेष निश्चयः ॥१०॥

परिच्छेदः ३

मुनिमाहात्म्यम्

परिग्रहं परित्यज्य जाता ये तु तपस्विनः ।
तेषां गायन्ति शास्त्राणि माहात्म्यं सर्वतोऽधिकम् ॥१॥

ऋषीणां पूर्णसामर्थ्यं वेत्तुं को मानवः क्षमः ।
दिवंगतान् यथा जीवान् संख्यातुं को जनः क्षमः ॥२॥

मुक्तेर्भिन्नं भवं ज्ञात्वा त्यक्तो येन महात्मना ।
उद्द्योतितं जगत्सर्वं तेनैव निजतेजसा ॥३॥

स्वर्गक्षेत्रस्य बीजानि[1] संयमेन तपोधनाः ।
इन्द्रियाणि वशे येषामङ्कुशेन गजो यथा ॥४॥

विजिताक्षमहर्षीणां शक्तिरत्रास्ति कीदृशी ।
ज्ञातुमिच्छसि चेत्तर्हि पश्य भक्तं सुराधिपम् ॥५॥

करोति दुष्करं कार्यं सुकरं पुरुषोत्तमः ।
करोति सुकरं कार्यं दुष्करं पुरुषाधमः ॥६॥

स्पर्शे रसेऽथवा गन्धे रूपे शब्दे च यन्मनः ।
क्रमते नैव तस्यास्ति योगो विष्टपशासने ॥७॥

ये सन्ति धार्मिका ग्रन्थाः समस्ते धरिणीतले ।
आलोकं[2] तेऽपि कुर्वन्ति मुनीनां सत्यवादिनाम् ॥८॥

त्यागस्य शिखरारूढो मोहग्रन्थिमपास्य यः ।
क्षणं सहेत तत्क्रोधमेवं नास्ति नरो भुवि ॥९॥

साधुस्वभावमापन्ना मुनयो ब्राह्मणा मताः ।
यतस्तेषां सदा चित्ते जीवानां करुणा स्थिता ॥१०॥

---

१. 'सन्ति' अध्याहार्यम्, २. जयघोषम् ।

परिच्छेदः ४

धर्ममाहात्म्यम्

धर्मात् साधुतरः कोऽन्यो यतो विन्दन्ति मानवाः ।
पुण्यं स्वर्गप्रदं नित्यं निर्वाणञ्च सुदुर्लभम् ॥१॥

धर्मान्नास्त्यपरा काचित् सुकृतिर्देहधारिणाम् ।
तत्त्यागान्न परा काचिद् दुष्कृतिर्देहभाजिनाम् ॥२॥

सत्कृत्यं सर्वदा कार्यं यदुदर्के सुखावहम् ।
पूर्णशक्तिं समाधाय महोत्साहेन धीमता ॥३॥

सर्वेषामेव धर्माणामेष सारो विनिश्चितः ।
मनःशुद्धिं विहायान्यो वृथैवाडम्बरो महान् ॥४॥

दुर्वचोलोभकोपेर्ष्याः हातव्या धर्मलिप्सुना ।
इदं हि धर्मसोपानं धर्मज्ञैः परिनिश्चितम् ॥५॥

करिष्यामीति संकल्पं त्यक्त्वा धर्मी भव द्रुतम् ।
धर्म एव परं मित्रं यन्मृत्यौ सह गच्छति ॥६॥

को गुणः खलु धर्मेण मा पृच्छैवं कदाचन ।
शिबिकावाहकान् दृष्ट्वा तस्याश्चारूढभूपतिम् ॥७॥

व्यर्थं न याति यस्यैकं धर्माचारं विना दिनम् ।
जन्ममृत्युमहाद्वारं मुद्रितं तेन साधुना ॥८॥

सुखं धर्मसमुद्भूतं सुखं प्राहुर्मनीषिणः ।
अन्यथा विषयोद्भूतं लज्जादुःखानुबन्धि तत् ॥९॥

कार्यं तदेव कर्तव्यं यत् सदा धर्मसंभृतम् ।
धर्मेणासंगतं कार्यं हातव्यं दूरतो द्रुतम् ॥१०॥

परिच्छेदः ५

गृहस्थाश्रमः

आश्रमाः खलु चत्वारस्तेषु धन्या गृहस्थिताः ।
मुख्याश्रया हि ते सन्ति भिन्नाश्रमनिवासिनाम् ॥१॥

अनाथानां हि नाथोऽयं निर्धनानां सहायकृत् ।
निराश्रितमृतानाञ्च गृहस्थः परमः सखा ॥२॥

गृहिणः पञ्च कर्माणि स्वोन्नतिर्देवपूजनम् ।
बन्धुसाहाय्यमातिथ्यं पूर्वेषां कीर्तिरक्षणम् ॥३॥

परनिन्दाभयं यस्य विना दानं न भोजनम् ।
कृतिनस्तस्य निर्बीजो वंशो नैव कदाचन ॥४॥

यत्र धर्मस्य साम्राज्यं प्रेमाधिक्यञ्च दृश्यते ।
तद्गृहे तोषपीयूषं सफलाश्च मनोरथाः ॥५॥

गृही स्वस्यैव कर्माणि पालयेद् यत्नतो यदि ।
तस्य नावश्यका धर्मा भिन्नाश्रमनिवासिनाम् ॥६॥

धर्मेण संगतं यस्य कार्यं संजायते सदा ।
मुमुक्षुजनमध्ये तु स श्रेष्ठ इति कीर्तितः ॥७॥

यो गृही नित्यमुद्युक्तः परेषां कार्यसाधने ।
स्वयञ्चाचारसम्पन्नः पूतात्मा स ऋषेरपि ॥८॥

धर्माचारौ विशेषेण नित्यं सम्बन्धभाजिनौ ।
जीवनेन गृहस्थस्य सुकीर्तिस्तस्य भूषणम् ॥९॥

विदधाति तथा कार्यं यथा यद्विहितं विधौ ।
विबुधः स गृही सत्यं मान्यैरार्यैः प्रकीर्तितः ॥१०॥

परिच्छेदः ६

गृहिणी

यस्यामस्ति सुपत्नीत्वं सैवास्ति गृहिणी सती ।
गृहस्यायमनालोच्य व्ययते न पतिव्रता ॥१॥
यदि नास्ति गृहे दैवात् पत्नी स्वगुणभूषिता ।
अन्यवैभवयोगेऽपि कष्टं गार्हस्थ्यजीवनम् ॥२॥
यत्र पत्नी गुणैराढ्या तत्र श्रीः सर्ववस्तुनः ।
यदि पत्नी गुणैर्हीना त्रुटिः कस्य न वस्तुनः ॥३॥
पातिव्रत्यबलेनैव यदि स्त्री शक्तिशालिनी ।
ततोऽधिकः प्रभावः कः प्रतिष्ठावर्धको भुवि ॥४॥
सर्वदेवान् परित्यज्य पतिदेवं नमस्यति ।
प्रातरुत्थाय या नारी तद्वश्या वारिदाः स्वयम् ॥५॥
आदृता पतिसेवायां रक्षणे कीर्तिधर्मयोः ।
अद्वितीया सतां मान्या पत्नी सा पतिदेवता ॥६॥
गुप्तस्थाननिवासेन स्त्रीणां नैव सुरक्षणम् ।
अक्षाणां[1] निग्रहस्तासां केवलो धर्मरक्षकः ॥७॥
प्रसूते या शुभं पुत्रं लोकमान्यं विदाम्वरम् ।
स्तुवन्ति देवता नित्यं स्वर्गस्था अपि तां मुदा ॥८॥
यस्य गेहाद् यशोवल्ल्याः प्रसारो नैव जायते ।
उद्ग्रीवः सन् कथं शत्रोरग्रे सिंह इवैति[2] सः ॥९॥
विशुद्धमादृतं गेहमुत्तमो वर उच्यते ।
सुसंततिस्तु माहात्म्यपराकाष्ठाप्रकाशिनी ॥१०॥

---

१. इन्द्रियाणाम्, २. एति–गच्छति ।

परिच्छेदः ७

संततिः

यदि पुण्यात् कुले जन्म बुद्धिमत्याः सुसंततेः ।
ततोऽधिकं परं श्रेयो न मन्येऽहं महीतले ॥१॥

निष्कलङ्का सदाचारभूषिता यस्य संततिः ।
सप्तजन्मसमाप्त्यन्तं नासौ पापस्य भाजनम् ॥२॥

आनन्ददायिनी पुंसः संततिः सत्यसम्पदा ।
निधानं प्राप्यते पुण्यैरीदृशं सुखदायकम् ॥३॥

शिशुभिर्लघुहस्ताभ्यां मथ्यते यत् सुभोजनम् ।
तद्रसास्वादनं नूनं पीयूषस्वादसन्निभम् ॥४॥

अङ्गस्पर्शो हि बालानां देहे पूर्णसुखोदयः ।
निसर्गललितालापस्तेषां कर्णरसायनम् ॥५॥

वेणुध्वनौ सुमाधुर्यं वीणा स्वादीयसी बहुः ।
एवं वदन्ति यैर्नैव श्रुता संततिकाकिली ॥६॥

प्रजां प्रति पितुः कार्यमिदमेवावशिष्यते ।
मध्येसभं यथा स्यात् सा बुधपंक्तौ गुणादृता ॥७॥

सर्वेषां जायते मोदो दृष्ट्वा हर्षविकासिनीम् ।
बुद्धिवैभवमाहात्म्यैरात्मनोऽप्यधिकां प्रजाम् ॥८॥

प्रकाशते सुतोत्पत्त्या मातुर्मोदस्य वारिधिः ।
तत्कीर्तिश्रवणात्तस्या उद्वेलः स च जायते ॥९॥

यदुदात्तां कृतिं वीक्ष्य पृच्छेयुर्जनकं जनाः ।
यदीदृक् तपसा केन सुतो लब्धः स नन्दनः ॥१०॥

प्रेम

अर्गला कापि नो नूनं प्रेमद्वारनिरोधिनी ।
सूच्यतेऽश्रुनिपातेन मानसे तस्य संस्थितिः ॥१॥

यो नरः प्रेमशून्यो हि स जीवत्यात्मनः कृते ।
परं प्रेमानुरक्तस्य [1]कीकसञ्च परार्थकृत् ॥२॥

प्रेमामृतरसास्वादलालसोऽयं हि चेतनः ।
सम्मतोऽभूत्पुनर्बद्धुं पिञ्जरेऽस्थिविनिर्मिते ॥३॥

प्रेम्णः संजायते स्नेहः स्नेहात् साधुस्वभावता ।
अमूल्यं मित्रतारत्नं सूते सा स्नेहशीलता ॥४॥

यदिहास्ति परत्रापि सौभाग्यं भाग्यशालिनः ।
तत् स्नेहस्य पुरस्कारो विश्रुतेयं जनश्रुतिः ॥५॥

साधुभिः सह कर्तव्यः प्रणयो नेतरैः समम् ।
नेयं सूक्तिर्यतः स्नेहः खलस्यापि जये क्षमः ॥६॥

अस्थिहीनं यथा कीटं सूर्यो दहति तेजसा ।
तथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्यं नृकीटकम् ॥७॥

मरुभूमौ यदा स्थाणुर्भवेत् पल्लवसञ्जितः ।
तदा प्रेमविहीनोऽपि भवेद् ऋद्धिसमन्वितः ॥८॥

आत्मनो भूषणं प्रेम यस्य चित्ते न विद्यते ।
बाह्यं हि तस्य सौन्दर्यं व्यर्थं रूपधनादिजम् ॥९॥

जीवनं जीवनं नैव स्नेहो जीवनमुच्यते ।
प्रेमहीनो नरो नूनं मांसलिप्तास्थिसंचयः ॥१०॥

---

१ अस्थि

परिच्छेदः ९

अतिथिसत्कारः

बहुकष्टसमाकीर्णं गृहभारं मनीषिणः ।
वहन्ति केवलं वीक्ष्य पुण्यमातिथ्यपूजनम् ॥१॥
यदि दैवाद् गृहे वासो देवस्यातिथिरूपिणः ।
पीयूषस्यापि पानं हि तं विना नैव शोभते ॥२॥
गृहागतातिथेर्भक्तेर्यो हि नैव प्रमाद्यति ।
तस्योपरि न चायाति विपत्तिः कापि कष्टदा ॥३॥
योग्यातिथेः सदा यस्य स्वागते मानसीस्थितिः ।
श्रियोऽपि जायते मोदो वासार्थं तस्य सद्मनि ॥४॥
शेषमन्नं स्वयं भुङ्क्ते पूर्वं भोजयतेऽतिथीन् ।
क्षेत्राण्यकृष्टपच्यानि नूनं तस्य महात्मनः ॥५॥
पूर्वं सम्पूज्य गच्छन्तमागच्छन्तं प्रतीक्षते ।
यः पुमान् स स्वयं नूनं देवानां सुप्रियोऽतिथिः ॥६॥
आतिथ्यपूर्णमाहात्म्यवर्णने न क्षमा वयम् ।
दातृपात्रविधिद्रव्यैस्तस्मिन्नस्तिविशेषता ॥७॥
अकर्ताऽतिथियज्ञस्य शोकमेवं गमिष्यति ।
सञ्चितोऽयं महाकोषः पञ्चत्वे हा न कार्यकृत् ॥८॥
योग्यवैभवसद्भावे येनाहो नेज्यतेऽतिथिः ।
दरिद्रः स नरो नूनं मूर्खाणाञ्च शिरोमणिः ॥९॥
आघ्रातं म्लानतां याति शिरीषकुसुमं परम् ।
एकेन दृष्टिपातेन म्रियतेऽतिथिमानसम् ॥१०॥

परिच्छेदः १०

मधुरभाषणम्

सुस्निग्धा मधुरा नूनं सतां भवति भारती ।
अकृत्रिमा दयायुक्ता पूर्णसद्भावसंभृता ॥१॥

प्रियवाण्यां सुवात्सल्ये स्निग्धदृष्टौ च यद्विधम् ।
माधुर्यं दृश्यते तद्वद् बृहद्दानेऽपि नेक्ष्यते ॥२॥

स्नेहपूर्णा दयादृष्टिर्हार्दिकी या च वाक्सुधा ।
एतयोरेव मध्ये तु धर्मो वसति सर्वदा ॥३॥

वचनानि रसाढ्यानि यस्याह्लादकराणि सः ।
कदाचिल्लभते नैव दारिद्र्यं दुःखवर्द्धनम् ॥४॥

भूषणे द्वे मनुष्यस्य नम्रताप्रियभाषणे ।
अन्यद्धि भूषणं शिष्टैर्नादृतं सभ्यसंसदि ॥५॥

यदि ते मानसं शुद्धं वाणी चान्यहितङ्करी ।
धर्मवृद्ध्या समं तर्हि विज्ञेयः पापसंक्षयः ॥६॥

सेवाभावसमायुक्तं विनम्रवचनं सदा ।
विश्वं करोति मित्रं हि सन्त्यन्येऽपि महागुणाः ॥७॥

शब्दाः सहृदयैः श्लाघ्याः क्षुद्रतारहिताश्च ये ।
कुर्वन्ति ते हि कल्याणमिहामुत्र च भाषिणः ॥८॥

श्रुतिप्रियोक्तिमाधुर्यमवगस्यापि ना[1] कथम् ।
न मुञ्चति दुरालापं किमाश्चर्यमतः परम् ॥९॥

विहाय मधुरालापं कटूक्तिं योऽथ भाषते ।
अपक्कं हि फलं भुङ्क्ते परिपक्कं विमुच्य सः ॥१०॥

---

१. नरः ।

परिच्छेदः ११

कृतज्ञता

या दया क्रियते भव्यैराभारस्थापनं विना ।
स्वर्ग्यमर्त्यावुभौ तस्याः प्रतिदानाय न क्षमौ ॥१॥
शिष्टैरवसरं वीक्ष्य यानुकम्पा विधीयते ।
स्वल्पापि दर्शने किन्तु विश्वस्मात् सा गरीयसी ॥२॥
आपन्नार्तिविनाशाय यानपेक्ष्यार्यवृत्तिना ।
क्रियते करुणा तस्या अब्धेरप्यधिकं बलम् ॥३॥
लाभः सर्षपतुल्योऽपि परस्माज्जायते यदि ।
कृतज्ञस्य पुरस्तात्तु तालतुल्यो भवत्यसौ ॥४॥
सीमा कृतज्ञतायास्तु नोपकारावलम्बिता ।
तन्मूल्यमुपकार्यस्य पात्रत्वे किन्तु निर्भरम् ॥५॥
उपेक्षा नैव कर्तव्या प्रसादस्य महात्मनाम् ।
प्रणयोऽपि न हातव्यस्तेषां ये दुःखबान्धवाः ॥६॥
संकटे भीतिमापन्नान् य उद्धरति सर्वदा ।
कृतज्ञत्वेन तन्नाम कीर्त्यते हि भवान्तरे ॥७॥
नीचत्वं ननु नीचत्वमुपकारस्य विस्मृतिः ।
भद्रत्वं खलु भद्रत्वमपकारस्य विस्मृतिः ॥८॥
अपकर्तुरपि प्राज्ञैरुपकारः पुराकृतः ।
स्मृतः करोति दुःखानां विस्मृतिं मर्मघातिनाम् ॥९॥
अन्यदोषेण निन्द्यानामुद्धारः संभवत्यहो ।
परं भाग्यविहीनस्य कृतघ्नस्य न चास्ति सः ॥१०॥

परिच्छेदः १२

न्यायशीलता

इदं हि न्यायनिष्ठत्वं यन्निष्पक्षतया सदा ।
न्याय्यो भागो हृदा देयो मित्राय रिपवेऽथवा ॥१॥

न क्षीणा जायते जातु सम्पत्तिर्न्यायशालिनः ।
वंशक्रमेण सा याति सहैवास्य सुकर्मणः ॥२॥

अन्यायप्रभवं वित्तं मा गृहाण कदाचन ।
वरमस्तु तदादाने लाभ एवास्तदूषणः ॥३॥

अन्यायेन समायुक्तं न्यायारूढञ्च मानवम् ।
व्यनक्ति संततिर्नूनं स्वगुणैरात्मसंभवम् ॥४॥

स्तुतिर्निन्दा च सर्वेषां जायेते जीवने ध्रुवम् ।
न्यायनिष्ठा परं किञ्चिदपूर्वं वस्तु धीमताम् ॥५॥

नीतिं मनः परित्यज्य कुमार्गं यदि धावते ।
सर्वनाशं विजानीहि तदा निकटसंस्थितम् ॥६॥

अथ निःस्वो भवेन् न्यायी कदाचिद् दैवकोपतः ।
तथापि तं न पश्यन्ति लोका हेयदृशा ध्रुवम् ॥७॥

अमायिकस्तुलादण्डः पक्षद्वयसमो यथा ।
तेन तुल्यः सदा भूयादासीनो न्यायविष्टरे ॥८॥

नैवस्खलति चेतोऽपि सुनीतेर्यस्य धीमतः ।
तस्यौष्ठनिर्गतं वाक्यं न मृषा न्यायरागिणः ॥९॥

परकार्यमपि प्रीत्या स्वकार्यमिव यो गृही ।
कुरुते तस्य कार्येषु सिद्धिर्भाग्यवतः सदा ॥१०॥

परिच्छेदः १३

संयमः

इन्द्रियाणां निरोधेन लभ्यते त्रिदशालयः ।
घण्टापथस्तु[1] विज्ञेयो रौरवार्थमसंयमः ॥१॥

संयमोऽपि सदा रक्ष्यो निजकोषसमो बुधैः ।
ततोऽधिकं यतो नास्ति निधानं जीवने परम् ॥२॥

सम्यग्बोधेन यः प्राज्ञः करोतीच्छानिरोधनम् ।
मेधादिसर्वकल्याणं प्राप्स्यते स सदाशयः ॥३॥

इन्द्रियाणां जयो यस्य कर्तव्येषु च शूरता ।
पर्वतादधिकस्तस्य प्रभावो वर्तते भुवि ॥४॥

नम्रता वर्तते नूनं सर्वेषामेव भूषणम् ।
पूर्णाशैः शोभते किन्तु धनिके विनयान्विते ॥५॥

संयम्य करणग्रामं कूर्मोऽङ्गानीव यो नरः ।
वर्तते तेन कोशो हि संचितो भाविजन्मने ॥६॥

अन्येषां विजयो माऽस्तु संयतां रसनां कुरु ।
असंयता यतो जिह्वा बह्वपायैरधिष्ठिता ॥७॥

एकमेव पदं वाण्यामस्ति चेन्मर्मघातकम् ।
विनष्टास्तर्हि विज्ञेया उपकाराः पुराकृताः ॥८॥

दग्धमङ्गं पुनः साधु जायते कालपाकतः ।
कालपाकमपि प्राप्य न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥९॥

पश्य मर्त्य जितस्वान्तं विद्यावन्तं सुमेधसम् ।
यद्दर्शनाय तद्गेहमेतो[2] धर्मित्वसाधुते ॥१०॥

---

१ राजमार्गः, २ आगच्छतः

परिच्छेदः १४

सदाचारः

सदाचारेण सर्वत्र प्रतिष्ठाधारको जनः ।
प्राणाधिकस्ततो रक्ष्यः सदाचारः सदा बुधैः ॥१॥

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत सुधीश्चरितमात्मनः ।
दृढमित्रं यतो नास्ति तत्तुल्यं क्वापि विष्टपे[1] ॥२॥

आचारेण सुवंश्यत्वं द्योत्यते जगतीतले ।
कदाचारैश्च नीचानां श्रेणावायाति मानवाः ॥३॥

विस्मृतोऽप्यागमः प्राज्ञैः कण्ठस्थः क्रियते पुनः ।
स्वाचारप्रच्युतः किन्तु न पुनर्याति तत्पदम् ॥४॥

परोत्कर्षासहिष्णूनां यथा नैव समृद्धयः ।
न गौरवं तथा किञ्चिद् दुराचारवतः कृते ॥५॥

न स्खलन्ति सदाचारात् प्रतिज्ञापालका जनाः
स्खलनं ते हि जानन्ति दुःखाब्धेर्मूलकारणम् ॥६॥

सन्मार्गवर्तिनः पुंसः सन्मानं सभ्यसंसदि ।
अप्रतिष्ठापकीर्तिश्च भाग्ये कापथगामिनः ॥७॥

सुखबीजं सदाचारो वैभवस्यापि साधनम् ।
कदाचारप्रसक्तिस्तु विपदां जन्मदायिनी ॥८॥

विद्याविनयसम्पन्नः शालीनो गुणवान् नरः ।
प्रमादादपि दुर्वाक्यं न ब्रूते हि कदाचन ॥९॥

अन्यत् सर्वं सुशिक्षन्ते मूर्खा योग्योपदेशतः ।
हन्त सन्मार्गगामित्वं न शिक्षन्ते कदापि ते ॥१०॥

---

१. जगति ।

परिच्छेदः १५

परस्त्रीत्यागः

रूपलावण्यसंव्याप्तदेहयष्टिजुषामपि ।
नासौ रागी परस्त्रीणां धने धर्मे च यस्य धीः ॥१॥
नास्ति तस्मात् परो मूर्खो यो द्वारं प्रतिवेशिनः ।
वीक्षते पापबुद्धया स स्वधर्मात् पतितो जनः ॥२॥
असंशयं मुखे मृत्योस्ते तिष्ठन्ति नराधमाः ।
असन्देहवतः सख्युर्गृहं यैरभिगम्यते ॥३॥
कोऽर्थस्तस्य महत्त्वेन रमते यः परस्त्रियाम् ।
व्यभिचारात् समुत्पन्ना लज्जा येन च हेलिता ॥४॥
आश्लिष्यति गले यश्च सुलभां प्रतिवेशिनीम् ।
अङ्कमारोप्य तेनैव दूषितं निजनामकम् ॥५॥
चत्वारो नैव मुञ्चन्ति व्यभिचारिजनं सदा ।
घृणा पापानि भ्रान्तिश्च कलङ्केन समन्विताः ॥६॥
विरक्तः प्रतिवेशिन्या रूपलावण्यसम्पदि ।
स एव सद्गृही सत्यं कुलजाचारपालकः ॥७॥
नैवेक्षते परस्त्रीं यः पुंस्त्वं तस्य जयत्यहो ।
न परं तत्र धर्मित्वं महात्मा स हि भूतले ॥८॥
बाहुपाशे न यो धत्ते कण्ठाश्लिष्टां पराङ्गनाम् ।
भोक्ता स एव सर्वेषां श्रेयसां भूमिवर्तिनाम् ॥९॥
वरमन्यत्कृतं पापमपराधोऽपि वा वरम् ।
परं न साध्वी त्वत्पक्षे कांक्षिता प्रतिवेशिनी ॥१०॥

परिच्छेदः १६

क्षमा

आश्रयं धरणी दत्ते खनितारमपि ध्रुवम् ।
तथा त्वं बाधकान्नित्यं क्षमस्वास्मिन् सुगौरवम् ॥१॥

तस्मै देहि क्षमादानं यस्ते कार्यविघातकः ।
विस्मृतिः कार्यहानीनां यद्यहो स्यात् तदुत्तमा ॥२॥

स एव निर्धनो नूनमातिथ्याद् यः पराङ्मुखः ।
एवं स एव वीरेन्दुर्मौर्ख्यं येन विपद्यते ॥३॥

यदि कामयसे सत्यं हृदयेन सुगौरवम् ।
कार्यस्तर्हि समं सर्वैर्व्यवहारः क्षमामयः ॥४॥

प्रतिवैरं विधत्ते यो न स्तुत्यः स विदाम्वरैः ।
अरावपि क्षमाशीलो बहुमूल्यः स हेमवत् ॥५॥

यावदेकदिनं हर्षो जायते वैरसाधनात् ।
क्षमादानव्रतः किन्तु प्रत्यहं गौरवं महत् ॥६॥

प्राप्यापि महतीं हानिं स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ।
न लक्ष्यते परं चित्रं नैवेहा वैरशोधने ॥७॥

विधत्ते तव कार्याणां हानिं यो गर्विताशयः ।
सद्वर्तनस्य शस्त्रेण तस्यापि विजयी भव ॥८॥

गृहं विमुच्य ये जाता ऋषयो लोकपूजिताः ।
तेभ्योऽपि प्रवरा नूनं यैः खलोक्तिर्विपद्यते ॥९॥

महान्तः सन्ति सर्वेऽपि क्षीणकायास्तपस्विनः ।
क्षमावन्तमनुख्याताः[1] किन्तु विश्वे हि तापसाः ॥१०॥

---

१ हीनाः

परिच्छेदः १७

ईर्ष्यात्यागः

ईर्ष्यापूर्णविचारास्तु सततं दुःखदायिनः ।
मनसा ताञ्जहीहि त्वं तदभावे हि धर्मिता ॥१॥
अखिलेर्ष्याविनिर्मुक्तस्वभावसदृशं पुनः ।
नास्ति भद्रमहो पुंसां विस्तृते जगतीतले ॥२॥
यस्य नास्ति धने प्रीतिर्धर्मे चात्महितङ्करे ।
स ईर्ष्यति सदा वीक्ष्य समृद्धं प्रतिवेशिनम् ॥३॥
ईर्ष्यया कुरुते नैव परहानिं विचक्षणः ।
ईर्ष्याजन्यविकाराणां ह्युदर्कं वेत्ति तत्त्ववित् ॥४॥
ईर्ष्यैवालं विनाशाय तदाश्रयप्रदायिनः ।
मुञ्चेद्वा तं रिपुर्जातु नत्वीर्ष्या सर्वनाशिनी ॥५॥
परस्मै यच्छते पुंसे य ईर्ष्यति नराधमः ।
भृशं दुःखायते तस्य कुटुम्बं कशिपोः[1] कृते ॥६॥
विजहाति स्वयं लक्ष्मीरीर्ष्यादूषितचेतसम् ।
अर्पयते च तं स्वस्याः पूर्वजायै[2] दुराशयम् ॥७॥
अतिदुःखकरी नूनं दानवीव दरिद्रता ।
इयमीर्ष्या च तद्दूती नरकद्वारदर्शिनी ॥८॥
ईर्ष्यावतां समृद्धत्वं दानिनाञ्च दरिद्रता ।
विवेकिनां मनस्येते समाने विस्मयावहे ॥९॥
ईर्ष्यया क्वापि नो कश्चित् पुष्पितः फलितोऽथवा ।
तथैवोदारचेतास्तु ताभ्यां क्वापि न वञ्चितः ॥१०॥

---

१. अन्नवस्त्रयोः, २. दरिद्रतायै ।

परिच्छेदः १९

निर्लोभिता

सन्मार्गं यः परित्यज्य परवित्ताभिलाषुकः ।
खलत्वं वर्द्धते तस्य परिवारश्च नश्यति ॥१॥

जुगुप्सा यस्य पापेभ्यो लोभं नैव करोति सः ।
प्रवृत्तिस्तस्य भद्रस्य कुकर्मणि न जायते ॥२॥

स्थिरसौख्याय यस्यास्ति स्पृहा तस्य सुमेधसः ।
लोभो नास्त्यल्पभोगानां पापकर्मविधायिनः ॥३॥

इन्द्रियाणि वशे यस्य चित्ते चातिविशालता ।
स्वोपयोगीति बुद्ध्या स नान्यवस्तु जिघृक्षति ॥४॥

किं तया क्रियते मत्या लोभे या क्रमते सदा ।
बोधेनैवञ्च किं तेन यद्यघाय समुद्यतः ॥५॥

सत्पथं ये सदा यान्ति सुकीर्तेश्चानुरागिणः ।
तेऽपि नष्टा भविष्यन्ति यदि लोभात् कुचक्रिणः ॥६॥

तृष्णया सञ्चितं वित्तं मा गृध्य हितवाञ्छया ।
एवंभूतं धनं भोगे दुःखैस्तीक्ष्णतरं भवेत् ॥७॥

लक्ष्मीर्भवेन्न मे न्यूना यद्येवं काङ्क्षसे ध्रुवम् ।
मा भूस्त्वं ग्रस्तुमुद्युक्तो वैभवं प्रतिवेशिनः ॥८॥

सुनीतिं वेत्ति यः प्राज्ञः परस्वाद् विमुखो भवन् ।
तद्गृहं ज्ञातमाहात्म्या लक्ष्मीरन्विष्य गच्छति ॥९॥

अदूरदर्शिनस्तृष्णा केवला नाशकारिणी ।
निष्कामस्य महत्त्वन्तु सर्वेषां विजयि ध्रुवम् ॥१०॥

परिच्छेदः ११

पैशुन्यपरिहारः

शुभं न रोचते यस्मै कुकृत्येषु रतश्च यः ।
सोऽपीदं मोदते श्रुत्वा यदसौ नास्ति सूचकः ॥१॥

शुभादशुभसंसक्तो नूनं निन्द्यस्ततोऽधिकः ।
पुरः प्रियम्वदः किन्तु पृष्ठे निन्दापरायणः ॥२॥

अलीकनिन्दितालापिजीवितान् मरणं वरम् ।
एवं कृते न नश्यन्ति पुण्यकार्याणि देहिनः ॥३॥

अवाच्यं यदि केनापि प्रत्यक्षे गदितं त्वयि ।
तस्य पृष्ठे तथापि त्वं मा भूर्निन्दापरायणः ॥४॥

मुखेन भाषतां वह्नीं शुभोक्तिं पिशुनो वरम् ।
सूचयत्येव तज्जिह्वा निम्नत्वं किन्तु चेतसः ॥५॥

त्वया यदि परे निन्द्याः स्युस्त्वां तेऽपि रुषान्विताः ।
दर्शयित्वा महादोषान् निन्दिष्यन्ति तवाहिताः ॥६॥

मैत्रीरसं न जानाति न चापि मधुरं वचः ।
स एव भेदमाधत्ते मित्रयोरेककण्ठयोः ॥७॥

पुरस्तादेव सर्वेषां मित्रं निन्दन्ति ये नराः ।
तैः शत्रवः कथं निन्द्या न स्युरिति विचार्यताम् ॥८॥

निन्दाकर्तुः पदाघातं सहते स्वोरसि[1] क्षमा[2] ।
तद्भारायैव सा धर्मं वीक्षते किं मुहुर्मुहुः ॥९॥

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता ।
कः समः खलु मुक्तोऽयं दोषवर्गेण सर्वदा ॥१०॥

---

१. वक्षःस्थले । २. पृथ्वी ।

परिच्छेदः २०

व्यर्थभाषणम्

अर्थशून्यं वचो यस्य श्रुत्वोद्वेगः प्रजायते ।
तत्सम्पर्काज्जुगुप्सन्ते लोके सर्वेऽपि मानवाः ॥१॥
क्लेशदानं स्वमित्रेभ्यो वरमस्तु कथञ्चन ।
गोष्ठ्यां किन्तु वृथालापो न श्लाघ्यो निम्नताकरः ॥२॥
निस्सारं दम्भपूर्णञ्च व्याख्यानं यः प्रभाषते ।
नन्वाख्याति स्वयं लोके स मन्दः[1] स्वामयोग्यताम् ॥३॥
बुधवृन्दे प्रलापेन कोऽपि लाभो न जायते ।
विद्यमानो वरांशोऽपि तत्सम्बन्धाद् विलीयते ॥४॥
योग्योऽप्ययोग्यवद् भाति व्यर्थालापपरायणः ।
सम्मानं गौरवञ्चास्य द्वयमेव विनश्यति ॥५॥
रुचिरेवास्ति यस्याहो मोघार्थवचसां व्यये ।
तं मानवं न जानीहि ह्यपेक्ष्यं चापि कच्चरम् ॥६॥
उचितं बुध चेद् भाति कुर्याः कर्कशभाषणम् ।
परं नैव वृथालापं यतोऽस्माद्वै तदुत्तमम् ॥७॥
येषां हि निरतं चित्तं तत्त्वज्ञानगवेषणे ।
विकथां ते न कुर्वन्ति क्षणमात्रं महर्षयः ॥८॥
येषां तु महती दृष्टिर्ये चैवं दीर्घदर्शिनः ।
विस्मृत्यापि न कुर्वन्ति वृथोक्तीस्ते महाधियः ॥९॥
वाचस्ता एव वक्तव्या याः श्लाघ्याः सभ्यमानवैः ।
वर्जनीयास्ततो भिन्ना अवाच्या या वृथोक्तयः ॥१०॥

---

१. मूर्खाः ।

परिच्छेदः २१

पापभीतिः

यन्मौर्ख्यं निखले लोके पापनाम्ना निगद्यते ।
ततोऽभीताः खलाः किन्तु सन्तस्तस्माच्च दूरगाः ॥१॥
'द्रोहात्संजायते द्रोह' इति सत्यं सुभाषितम् ।
दूरादेव ततस्त्याज्यो द्रोहाग्निर्वैरवर्द्धकः ॥२॥
कथयन्ति बुधा एवं यद्धीः सैवेह शस्यते ।
यया बुद्धिमता नित्यं हानिर्हेया द्विषामपि ॥३॥
विस्मृत्यापि नरो धीमान् परनाशं न चिन्तयेत् ।
यतस्तस्य विनाशाय न्यायो युक्तिं सदेक्षते ॥४॥
'निर्धनोऽस्मीति' बुद्ध्यापि न कर्तव्यं हि किल्बिषम् ।
दुरिताद् वर्द्धते यस्माद् दारिद्र्यमधिकाधिकम् ॥५॥
यदीच्छसि विपत्तिभ्यस्त्राणं सततमात्मनः ।
न कर्तव्या त्वया हानिः परेषां दुःखदायिनी ॥६॥
अन्यारिभ्यस्तु संरक्षा कदाचित् संभवत्यहो ।
परं पापाद् विनिर्मुक्तिर्नाशात्पूर्वा न जातुचित् ॥७॥
न जहाति नरं छाया यथा सा पृष्ठवर्तिनी ।
तथैव पापकर्माणि नाशोदर्काणि देहिनाम् ॥८॥
न करोति नरः पापं यस्यात्मा वै ध्रुवं प्रियः ।
स एव कुरुते पापं यस्यात्मा ध्रुवमप्रियः ॥९॥
विपदो विहतास्तस्य पूर्णरीत्या च रक्षितः ।
विधातुं पापकर्माणि यः सन्मार्गं न मुञ्चति ॥१०॥

परिच्छेदः २२

परोपकारः

नोपकारपराः सन्तः प्रतिदानजिघृक्षया ।
समृद्धः किमसौ लोको मेघाय प्रतियच्छति ॥१॥

महान्तो बहुभिर्यत्नैरर्जयन्ति स्वपौरुषात् ।
यद्द्रव्यं खलु तत्सर्वं परेषामेव कार्यकृत् ॥२॥

यः कश्चिदुपकारो हि हार्दिकः क्रियते बुधैः ।
न किञ्चिद्वस्तु तत्तुल्यं भूतले वा सुरालये ॥३॥

योग्यायोग्यविचारो हि नूनं यस्य स जीवति ।
तयोर्विवेकहीनश्च जीवन्नपि मृतायते ॥४॥

पश्य तं सलिलापूर्णं कासारं[1] हृद्यदर्शनम् ।
एवं तस्यापि गेहे श्रीर्यस्यान्तः प्रेमसंस्थितिः ॥५॥

उदाराणामिदं सर्वं वैभवं समुपार्जितम् ।
ग्राममध्ये समुत्पन्नतरुवैभवसन्निभम् ॥६॥

तेन वृक्षेण संकाशा[2] उत्तमस्य विभूतयः ।
सर्वाङ्गं यस्य भैषज्यं सदा च फलशालिनः ॥७॥

दुःखं दैवाद् यदि प्राप्तो योग्यायोग्यपरीक्षकः ।
न मुञ्चति तथाप्येष उपकारं दयाकरः ॥८॥

सुकृती रिक्तमात्मानं तदानीं मन्यते ध्रुवम् ।
आशाभंगान्निवर्तन्ते यदा वै याचका जनाः ॥९॥

उपकारो विनाशेन सहितोऽपि प्रशस्यते ।
विक्रीयापि निजात्मानं भव्योत्तम विधेहि तम् ॥१०॥

---

१. सरोवरम् । २. तुल्याः ।

परिच्छेदः २३

दानम्

दीनाय दुःखपात्राय यद्दानं तत्प्रशस्यते ।
अन्यत् सर्वन्तु विज्ञेयमुद्धारसदृशं पुनः ॥१॥

दानादाने[1] हि न श्रेयः स्वर्गोऽपि प्राप्यते यदि ।
दानञ्चं परमो धर्मः स्वर्गद्वारेऽपि मुद्रिते ॥२॥

प्रशंसार्हाः सतां मान्या ननु सर्वेऽपि दानिनः ।
परं तेषु कुलीनः स यः पूर्व न निषेधति ॥३॥

तावन्न मोदते दानी यावन्नासौ विलोकते ।
सन्तोषजनितं हर्षमर्थिनो मुखमण्डले ॥४॥

विजयेषु समस्तेषु श्रेष्ठः स्वात्मजयो मतः ।
ततोऽपि विजयः श्रेष्ठः परेषां क्षुत्प्रशामनम् ॥५॥

आर्तक्षुधाविनाशाय नियमोऽयं शुभावहः ।
कर्तव्यो धनिभिर्नित्यमालये वित्तसंग्रहः ॥६॥

इतरानपि संभोज्य यो भुङ्क्ते दययान्वितः ।
नैव स्पृशति तं जातु क्षुधारोगो भयङ्करः ॥७॥

सञ्चिनोति विनाशाय संकीर्णहृदयो धनम् ।
ज्ञायते तेन न ज्ञातो दानस्य मधुरो रसः ॥८॥

एकाकी कृपणो भुङ्क्ते यदन्नं प्रीतिसंयुतः ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं भिक्षान्नात् तद्घृणास्पदम् ॥९॥

मृत्युरेव हि तद्वस्तु यत्सर्वाधिकमप्रियम् ।
दानशक्तेरसद्भावे चित्रमेषोऽपि रोचते ॥१०॥

---

१. दानग्रहणे ।

परिच्छेदः २२

परोपकारः

नोपकारपराः सन्तः प्रतिदानजिघृक्षया ।
समृद्धः किमसौ लोको मेघाय प्रतियच्छति ॥१॥

महान्तो बहुभिर्यत्नैरर्जयन्ति स्वपौरुषात् ।
यद्द्रव्यं खलु तत्सर्वं परेषामेव कार्यकृत् ॥२॥

यः कश्चिदुपकारो हि हार्दिकः क्रियते बुधैः ।
न किञ्चिद्वस्तु तत्तुल्यं भूतले वा सुरालये ॥३॥

योग्यायोग्यविचारो हि नूनं यस्य स जीवति ।
तयोर्विवेकहीनश्च जीवन्नपि मृतायते ॥४॥

पश्य तं सलिलापूर्णं कासारं[1] हृद्यदर्शनम् ।
एवं तस्यापि गेहे श्रीर्यस्यान्तः प्रेमसंस्थितिः ॥५॥

उदाराणामिदं सर्वं वैभवं समुपार्जितम् ।
ग्राममध्ये समुत्पन्नतरुवैभवसन्निभम् ॥६॥

तेन वृक्षेण संकाशा[2] उत्तमस्य विभूतयः ।
सर्वाङ्गं यस्य भैषज्यं सदा च फलशालिनः ॥७॥

दुःखं दैवाद् यदि प्राप्तो योग्यायोग्यपरीक्षकः ।
न मुञ्चति तथाप्येष उपकारं दयाकरः ॥८॥

सुकृती रिक्तमात्मानं तदानीं मन्यते ध्रुवम् ।
आशाभंगान्निवर्तन्ते यदा वै याचका जनाः ॥९॥

उपकारो विनाशेन सहितोऽपि प्रशस्यते ।
विक्रीयापि निजात्मानं भव्योत्तम विधेहि तम् ॥१०॥

---

१. सरोवरम् । २. तुल्याः ।

परिच्छेदः २३

दानम्

दीनाय दुःखपात्राय यद्दानं तत्प्रशस्यते ।
अन्यत् सर्वन्तु विज्ञेयमुद्धारसदृशं पुनः ॥१॥

दानादाने[1] हि न श्रेयः स्वर्गोऽपि प्राप्यते यदि ।
दानञ्च परमो धर्मः स्वर्गद्वारेऽपि मुद्रिते ॥२॥

प्रशंसार्हाः सतां मान्या ननु सर्वेऽपि दानिनः ।
परं तेषु कुलीनः स यः पूर्वं न निषेधति ॥३॥

तावन्न मोदते दानी यावन्नासौ विलोकते ।
सन्तोषजनितं हर्षमर्थिनो मुखमण्डले ॥४॥

विजयेषु समस्तेषु श्रेष्ठः स्वात्मजयो मतः ।
ततोऽपि विजयः श्रेष्ठः परेषां क्षुत्प्रशामनम् ॥५॥

आर्तक्षुधाविनाशाय नियमोऽयं शुभावहः ।
कर्तव्यो धनिभिर्नित्यमालये वित्तसंग्रहः ॥६॥

इतरानपि संभोज्य यो भुङ्क्ते दययान्वितः ।
नैव स्पृशति तं जातु क्षुधारोगो भयङ्करः ॥७॥

सञ्चिनोति विनाशाय संकीर्णहृदयो धनम् ।
ज्ञायते तेन न ज्ञातो दानस्य मधुरो रसः ॥८॥

एकाकी कृपणो भुङ्क्ते यदन्नं प्रीतिसंयुतः ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं भिक्षान्नात् तद्घृणास्पदम् ॥९॥

मृत्युरेव हि तद्वस्तु यत्सर्वाधिकमप्रियम् ।
दानशक्तेरसद्भावे चित्रमेषोऽपि रोचते ॥१०॥

---

१. दानग्रहणे ।

परिच्छेदः २४

कीर्तिः

दानं विश्राण्य दीनेभ्यः प्रार्जयेत् कीर्तिमुज्ज्वलाम् ।
कीर्तितुल्यो यतो लाभो नरस्यान्यो न विद्यते ॥१॥

प्रशंसकमुखे तेषां वर्तते नामकीर्तनम् ।
यैः सदा दीयते दानं दीनेभ्यो दययान्वितैः ॥२॥

सर्वे भावा[1] विनश्यन्ति भुवनत्रयवर्तिनः ।
अतुला केवला कीर्तिर्नरस्याहो न नश्यति ॥३॥

दिगन्तव्यापिनी येन स्थायिनी कीर्तिरर्जिता ।
सम्मानयन्ति तं देवा ऋषेरपि महत्तरम् ॥४॥

विनाशः कीर्तिविस्फायी मृत्युश्च कीर्तिवर्द्धनः ।
मध्येमार्गं समायाति महतामेव तद्द्वयम् ॥५॥

नरत्वं खलु चेल्लब्धं भवितव्यं यशस्विना ।
नियोगेन त्वया मर्त्य मा भवेस्त्वं नरोऽथवा ॥६॥

न च क्रुध्यत्यहो स्वस्मै स्वयं दोषहतो नरः ।
परं वैरायते साकं निन्दकैः स जडाशयः ॥७॥

प्रतिष्ठाधारका नैव नूनं सन्ति नरास्तु ते ।
येषां नैव स्मृतिर्लोके कीर्तिरूपेण विश्रुता ॥८॥

अपकीर्तिमतां भारैराक्रान्तं पश्य मण्डलम् ।
समृद्धमपि तत्पूर्वं क्षयं याति शनैः शनैः ॥९॥

निष्कलङ्कं सदा यस्य जीवनं तस्य जीवनम् ।
कलङ्कैर्नष्टकीर्तिश्च नूनं मृतक एव सः ॥१०॥

---

१. पदार्थाः ।

परिच्छेदः २५

दया

महतां हि धनं चित्तं करुणारससंभृतम् ।
अन्यद् द्रव्यं यतो लोके हीनवर्गेऽपि दृश्यते ॥१॥

यथाक्रमं समीक्ष्यैव दयां चित्तेन पालयेत् ।
सर्वे धर्मा हि भाषन्ते दया मोक्षस्य साधनम् ॥२॥

असूर्या नाम ये लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्य न गच्छन्ति येषां चित्ते दयालुता ॥३॥

अंहसां न फलं तेषां भुङ्क्ते सर्वदयारतः ।
येषां स्मरणमात्रेण नूनमात्मा प्रकम्पते ॥४॥

दयालुः पुरुषो नैव जायते क्लेशभाजनम् ।
साक्षिणी तत्र वातानां वलयैर्वेष्टिता मही ॥५॥

हन्त येन दयाधर्मस्त्यक्तः पापान्धचेतसा ।
विस्मृतं तेन भुक्त्वापि धर्मत्यजनदुष्फलम् ॥६॥

यथा वैभवहीनाय नायं लोकः सुखाकरः ।
न तथा परलोकोऽपि कारुण्यक्षीणवृत्तये ॥७॥

ऐहिकार्थपरिक्षीणः कदाचिद् धनिको भवेत् ।
परं भूतदयारिक्तो नामुत्र सुदिनोदयः ॥८॥

सुलभं नो यथा सत्यं कषायवशवर्तिनः ।
न प्रशस्तं तथा कार्यं सुकरं निष्ठुरात्मना ॥९॥

दुर्वलं वाधितुं क्रूर यदोत्साहेन चेष्टसे ।
तत्पदे स्वं तदा मत्वा चिन्तयस्व निजस्थितिम् ॥१०॥

परिच्छेदः २६

निरामिषजीवनम्

अद्यते येन मांसं हि निजमांसविवृद्धये ।
नैव संभाव्यते नूनं करुणा तस्य मानसे ॥१॥

यथा धनं न तत्पार्श्वे व्यर्थं यो व्ययते नरः ।
मांसाशिनस्तथा चित्ते दयास्तित्वं न दृश्यते ॥२॥

मांसमास्वाद्यते येन निर्दयेन दुरात्मना ।
न श्रेयसि मनस्तस्य लुण्ठाकस्येव शस्त्रिणः ॥३॥

असंशयं महत् क्रौर्यं जीवानां खलु हिंसनम् ।
परं पापस्य घोरत्वं यन्मांसं भुज्यते जनैः ॥४॥

नियमेन मनुष्यस्य मांसत्यागे सुजीवनम् ।
अन्यथा नरकद्वारं न निर्गन्तुमनावृतम् ॥५॥

यदि नैव भवेल्लोके मांसास्वादस्य कामना ।
तर्हि नैव भवेल्लोके मांसस्य खलु विक्रयः ॥६॥

परस्यापि विजानीयात् स्वस्येव निधने व्यथाम् ।
सकृदेव नरो भूयो न कुर्याज्जीवहिंसनम् ॥७॥

मिथ्यात्वत्यजनाद् यस्य हृदयं न्यायसंगतम् ।
नासौ शवबुभुक्षुः स्यात् प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥८॥

हिंसायाः पिशिताच्चैव घृणा यस्यास्ति मानसे ।
कोटियज्ञफलं नित्यं लभ्यते तेन साधुना ॥९॥

आमिषाज्जीवघाताच्च विरतिर्यस्य धीमतः ।
पाणी संयोज्य सम्मानं कुरुते तस्य विष्टपम् ॥१०॥

परिच्छेदः २७

तपः

सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा ।
शान्त्या हि सर्वदुखानां सहनं तप इष्यते ॥१॥
तपो नूनं महत्तेजस्तेजस्विन्येव शोभते ।
निस्तेजसि तपः किन्तु निष्फलं जायते सदा ॥२॥
ऋषीणां परिचर्यार्थं केचिदावश्यका जनाः ।
इतीव न तपस्यन्ति किमन्ये धर्मवत्सलाः ॥३॥
रिपूणां निग्रहं कर्तुं सुहृदाश्चाप्यनुग्रहम् ।
यदीच्छा तर्हि तप्यस्व तपस्तद्द्वयसाधनम् ॥४॥
सर्वेषामेव कामानां सुसिद्धौ साधनं तपः ।
अतएव तपस्यार्थं यतन्ते सर्वमानवाः ॥५॥
ये कुर्वन्ति तपो भक्त्या श्रेयः कुर्वन्ति तेऽञ्जसा ।
अन्ये तु लालसाबद्धा आत्मनो हानिकारकाः ॥६॥
यथा भवति तीक्ष्णाग्निस्तथैवोज्ज्वलकाञ्चनम् ।
तपस्येवं यथाकष्टं मनःशुद्धिस्तथैव हि ॥७॥
प्रभुत्वं वर्तते यस्य स्वस्यात्मन्येव वस्तुनि ।
सम्पूजन्ति तं सर्वे निष्कामं पुरुषोत्तमम् ॥८॥
शक्तिसिद्धीउभेयस्य संप्राप्ते तपसोबलात् ।
मृत्योरपि जये तस्य साफल्यं दृश्यते स्फुटम् ॥९॥
अतृप्ताः सन्त्यसंख्याता अभिलाषावशंवदाः ।
अधिका हि तपोहीना विरलाश्च तपस्विनः ॥१०॥

परिच्छेदः २९

धूर्तता

प्रतारणमयीं वृत्तिं वीक्ष्य तस्यैव मायिनः ।
भौतिकाङ्गानि देहान्तस्[1]तूष्णीं भूत्वा हसन्ति तम् ॥१॥
कोऽर्थः प्रभाववत्यापि नरस्य मुखमुद्रया ।
यदि सैव विजानाति स्वचित्तं शाठ्यदूषितम् ॥२॥
तपस्विवेशमाधाय कातर्यं येन सेव्यते ।
सिंहचर्मपरिच्छन्नस्तृणभोजी स रासभः ॥३॥
धर्मेणाच्छादितस्तिष्ठन् स्वैराचारी हि पातकी ।
गुल्मेनान्तर्हितो गृह्णन् विष्किरानिव[2] नाफलः[3] ॥४॥
शुचिंमन्यः कुधीर्दम्भी मायया धर्मसेवकः ।
देहान्ते विलपत्येष हा हा नैव शुभं कृतम् ॥५॥
बहिस्त्यजति मायावी किल्बिषं नैव चेतसा ।
तथाप्याडम्बरो भूयान् दृश्यते निष्ठुरात्मनः ॥६॥
कृष्णतुण्डी यथा गुञ्जा बहिरेव मनोहरा ।
सुन्दरोऽपि तथा धूर्तो दूषणैर्दूषिताशयः ॥७॥
एवं हि बहवो लोका मनो येषां न पावनम् ।
परं तीर्थकृतस्नाना भ्रमन्ति ज्ञानिसन्निभाः ॥८॥
दर्शने सरलो बाणः किञ्चिद्वक्रश्च तुम्बुरुः ।
नराकृतिमतो हित्वा पश्य तत्कार्यपद्धतिम् ॥९॥
लोकनिन्द्यानि कार्याणि येन त्यक्तानि धीमता ।
किं जटाधारणैस्तस्य मुण्डनैर्वा महात्मनः ॥१०॥

---

१. देहमध्ये, २. पक्षिणः, ३. व्याधः ।

परिच्छेदः २९

निष्कपटव्यवहारः

घृणितं यदि नो लोके निजात्मानं दिदृक्षसि ।
स्वस्यात्मानं ततो नित्यं कपटाद्रक्ष यत्नतः ॥१॥

सर्वं वित्तं हरिष्यामि मायया प्रतिवेशिनः ।
एवं हार्दिकसंकल्पः पापाय परिकल्पते ॥२॥

कपटप्रभवं द्रव्यं वरं वर्द्धिष्णु भासताम् ।
अन्ते नाशः परं तस्य नियतोऽस्तीति निश्चयः ॥३॥

अपहारपिपासेयं समृद्धेरप्यनेहसि ।
अनन्तसंख्यकं दुःखं प्रत्येव नयति ध्रुवम् ॥४॥

परस्वं गृध्नुदृष्ट्या यो हर्तुं कालं प्रतीक्षते ।
दयास्थानं न तच्चित्ते प्रेमवार्ता च दूरगा ॥५॥

नापैति गृध्नुता यस्य लुण्ठित्वाप्यन्यसम्पदम् ।
वस्तुमूल्यं न तद्दृष्टौ सुपथश्च न याति सः ॥६॥

संसारासारतां ज्ञात्वा लब्धबोधः पवित्रदृक् ।
पार्श्वस्थवञ्चनादोषं कुरुते नैव धन्यधीः ॥७॥

आर्याणां राजते चित्ते निसर्गादृजुता यथा ।
मायित्वस्य निवासस्तु चौराणां हृदये तथा ॥८॥

तस्मिन् कारुण्यमायाति यत्रान्या नास्ति कैतवात् ।
वार्ता विमुच्य सन्मार्गं विनाशं स प्रयास्यति ॥९॥

निजदेहेऽपि स्वामित्वं वञ्चकानां विनश्यति ।
दायादाः किन्तु निर्बाधाः स्वर्गभूमेरमायिनः ॥१०॥

परिच्छेदः ३०

सत्यभाषणम्

यस्मान्न जायते पीडा कस्यापि प्राणधारिणः ।
तदेव वचनं सत्यं भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥१॥

संकटाकीर्णजीवानामुद्धारकरणेच्छया ।
कथिता साधुभिर्जातु मृषोक्तिरमृषैव सा ॥२॥

मृषात्वं यस्य विज्ञातं मनसा यदि धीमता ।
तद्वचो न प्रयोक्तव्यमनुतापोऽन्यथा भवेत् ॥३॥

सत्यव्रतेन यस्यास्ति पवित्रं मानसं सदा ।
प्रभुत्वं वर्तते तस्य सर्वेषामेव मानसे ॥४॥

सत्ये शाश्वतकल्याणे निमग्नं यस्य मानसम् ।
ऋषिभ्यः स महान् नूनं दानिभ्यश्च वरो मतः ॥५॥

अतः परा च का कीर्तिर्यन्मृषासौ न भाषते ।
एवं विधो नरो नूनं विना क्लेशेन सिद्धिभाक् ॥६॥

न वक्तव्यं न वक्तव्यं मृषावाक्यं कदाचन ।
सत्यमेव परो धर्मः किं परैर्धर्मसाधनैः ॥७॥

विमलैः सलिलैर्यद्वद् गात्रं शुद्धयति देहिनाम् ।
एवमेव मनुष्याणां मानसं सत्यभाषणैः ॥८॥

अन्यान् सर्वविधान्नैव प्रकाशान् मन्यते सुधीः ।
सत्यमेव परं ज्योतिर्विजानाति विशुद्धधीः ॥९॥

बहुवस्तूनि दृष्टानि तत्रैकं सारवत्तरम् ।
इदमेव मया ज्ञातं यत्सत्यं परमोत्तमम् ॥१०॥

परिच्छेदः ३१

क्रोधत्यागः

सत्यां निग्रहशक्तौ हि क्रोधत्यागः सुशोभते ।
यतः शक्तिविहीनस्य क्षान्त्याऽक्षान्त्या च किं भवेत् ॥१॥

अथ चेन् निग्रहेऽशक्तिस्तदा कोपो निरर्थकः ।
अथ चेन् निग्रहे शक्तिस्तदा कोपो घृणास्पदः ॥२॥

हानिकर्ता भवेत् कोऽपि कोपो हेयस्तथापि सः ।
अनर्था येन जायन्ते शतशो दुःखदायिनः ॥३॥

मोदं विहन्ति कोपोऽयमानन्दध्वन्सकारकः ।
अन्यो नास्ति ततः कोऽपि शत्रुर्हानिविधायकः ॥४॥

भद्रमिच्छसि चेद् भद्र[1] कोपं मुञ्च सुदूरतः ।
अन्यथाऽऽक्रम्य शीघ्रं ते स विनाशं विधास्यति ॥५॥

अग्निर्दहति तद्वस्तु तत्पार्श्वे यस्य संस्थितिः ।
भस्मीकरोति कोपस्तु क्रुध्यन्तं सकुटुम्बकम् ॥६॥

निधाय हृदि रोषं यो निधानमिव रक्षति ।
भूमिं संताड्य हस्तेन पीडितः स प्रमत्तवत् ॥७॥

सम्प्राप्य महतीं हानिं क्रोधाग्नौ संज्वलत्यपि ।
इदं भद्रतरं नूनं यत् कोपाद्भव दूरगः ॥८॥

त्वरितं तस्य सिध्यन्ति सर्व एव मनोरथाः ।
येन दूरीकृतो नित्यं क्रोधोऽयं शान्तचेतसा ॥९॥

स्ववशे नैव यश्चण्डः[2] स नूनं मृतसन्निभः ।
यश्च कोपपरित्यागी योगितुल्यो विभाति सः ॥१०॥

---

१. कल्याणम् । २. अत्यन्तकोपी ।

परिच्छेदः ३२

उपद्रवत्यागः

लोभादिदोषनिर्मुक्तो विशुद्धहृदयो नरः ।
दत्ते त्रासं न कस्मैचिद् अपि कौवेरसम्पदे ॥१॥

द्वेषबुद्ध्या महत्कष्टं विधत्ते यदि दुष्टधीः ।
न कुर्वते तथाप्यार्या वैरशुद्धिं विकल्मषाः ॥२॥

अहेतौ यो व्यथां दत्ते मे तस्मै च तथैव ताम् ।
दास्येऽहमिति संकल्पे दुश्चिकित्स्या विपत्तयः ॥३॥

अहितस्य हितं कुर्याद् ह्रिया येन मृतो भवेत् ।
विनयार्थं हि दुष्टानामेषैव श्लाघ्यपद्धतिः ॥४॥

यो न वेत्ति परस्यापि स्वस्येव व्यसने व्यथाम् ।
कोऽर्थस्तस्य नरस्याहो तीक्ष्णयापि महाधिया ॥५॥

दुःखानि यानि भुक्तानि स्वयमेव मनीषिणा ।
परस्मै तानि नो जातु देयानीति विचिन्तयेत् ॥६॥

ज्ञातभावेन कस्मैचित् स्वल्पा अपि मनोव्यथाः ।
न दत्ते यस्ततः कोऽन्यः श्लाघ्यो भवति भूतले ॥७॥

यानि दुःखानि भुक्तानि स्वयमेव मुहुर्मुहुः ।
न जातु तानि देयानि परस्मै सारसंग्रहः ॥८॥

मध्याह्ने यद्यहो कश्चिद् बाधते प्रतिवेशिनम् ।
तद्दिने प्रहरादूर्ध्वं स्वयं सैव विपद्यते ॥९॥

दुष्कर्मकारिणां शीर्षमाक्रमन्त्यापदः सदा ।
अपकृत्यान्यतो भद्रास्त्यजन्तीह निरन्तरम् ॥१०॥

परिच्छेदः ३३

अहिंसा

अहिंसा परमो धर्मो धर्मेषु श्रेष्ठसम्मतिः ।
हिंसा च सर्वपापानां जननी लोकविश्रुता ॥१॥

इदं हि धर्म सर्वस्वं शास्तृणां वचने द्वयम् ।
क्षुधार्तेन समं भुक्तिः प्राणिनाञ्चैव रक्षणम् ॥२॥

अहिंसा प्रथमो धर्मः सर्वेषामिति सम्मतिः ।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं सूनृतं तदनन्तरम् ॥३॥

अयमेव शुभो मार्गो यस्मिन्नेवं विचारणा ।
जीवः कोऽपि न हन्तव्यः क्षुद्रात्क्षुद्रतरोऽपि सन् ॥४॥

हिंसां दूरात् समुत्सृज्य येनाहिंसा समादृता ।
उदात्तः स हि विज्ञेयः पापत्यागिषु वै ध्रुवम् ॥५॥

अहिंसाव्रतसम्पन्नो धन्योऽस्ति करुणामयः ।
सर्वग्रासी यमोऽप्यस्य जीवने न क्षमो भवेत् ॥६॥

विपत्तिकाले सम्प्राप्ते प्राप्ते च प्राणसंकटे ।
तथाप्यन्यप्रियप्राणान् मा जहि त्वं दयार्द्रधीः ॥७॥

श्रूयते बलिदानेन लभ्यन्ते वरसम्पदः ।
पवित्रस्य परं दृष्टौ तास्तुच्छाश्च घृणास्पदाः ॥८॥

येषां जीवननिर्वाहो हिंसायामेव निर्भरः ।
विबुधानां सुदृष्टौ ते मृतस्वादकसन्निभाः ॥९॥

पूतिगन्धसमायुक्तं पश्य शीर्णं कलेवरम् ।
स घातकचरो नूनं बुधैरित्यनुमीयते ॥१०॥

परिच्छेदः ३४

संसारानित्यता

अहो मोहस्य माहात्म्यमज्ञानं चाथ किं परम् ।
अध्रुवं यद् ध्रुवं वेत्ति न च स्वस्यैव बोधनम् ॥१॥

समायाति महालक्ष्मीः प्रेक्षणे जनसंघवत् ।
विनिर्याति महालक्ष्मीस्तदन्ते जनसंघवत् ॥२॥

समृद्धो यदि जातोऽसि द्रुतमेव विधेहि तत् ।
यत्कार्यं सुस्थिरं लोके यतो वित्तं न शाश्वतम् ॥३॥

कालो यद्यपि निर्दोषः सरलश्चाथ दृश्यते ।
परं कृन्तति सर्वेषामायुः क्रकचसन्निभः[1] ॥४॥

शीघ्रतैव सदा कार्या विबुधैः शुभकर्मणि ।
को हि वेत्ति कदा जिह्वा स्तब्धा स्यात् सह हिक्कया ॥५॥

ह्य एव मनुजः कश्चिदासीदखिलगोचरः ।
स एवाद्य नरो नास्ति नूनमित्येव विस्मयः ॥६॥

को जानाति पलस्यान्ते जीवनं मे भवेन्न वा ।
परं पश्यास्य संकल्पान् कोटिशो हृदि संस्थितान् ॥७॥

पत्त्रं प्राप्य यथा पत्त्री स्फुटिताण्डं विहाय च ।
उड्डीयते तथा देही देहाद् याति स्वकर्मतः ॥८॥

असौ मृत्युः समाम्नातो निद्रातुल्यो विदाम्वरैः ।
जीवनं तस्य विच्छेदः स्वापाज्जागृति सन्निभम् ॥९॥

आत्मनो वै निजावासः किंस्विन्नास्तीह भो जनाः ।
हीनस्थाने यतो देहे भुङ्क्ते वासेन पीडनम् ॥१०॥

---

१. करपत्रसदृशः ।

परिच्छेदः ३५

त्यागः

मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय यत्किञ्चित् परिमुञ्चति ।
तदुत्पन्नमहादुःखान्निजात्मा तेन रक्षितः ॥१॥

अनेकसुखरत्नानामाकरस्त्यागसागरः ।
चिरं सुखाभिलाषा चेद् भव त्यागपरायणः ॥२॥

निग्रहं कुरु पञ्चानामिन्द्रियाणां विकारिणाम् ।
प्रियेषु त्यज संमोहं त्यागस्यायं शुभक्रमः ॥३॥

सर्वसंगपरित्यागो यमिनां व्रतमिष्यते ।
पुनर्बन्धनप्राप्तिर्हि त्यक्तोपात्तैकवस्तुना ॥४॥

भवचक्रनिवृत्तीच्छोरस्ति कायेऽपि हेयता ।
कथमावश्यकास्तस्य भिन्ना बन्धनहेतवः ॥५॥

'अहं' 'ममेति' संकल्पो गर्वस्वार्थित्वसम्भृतः ।
जेतास्य याति तं लोकं स्वर्गादुपरिवर्तिनम् ॥६॥

अतितृष्णाभिभूतो यो लोभं नैव जिहासति ।
स दुःखैर्ग्रस्यते नित्यं यतो मुक्तिर्न जातुचित् ॥७॥

विरक्तो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहः सर्ववस्तुनि ।
अन्ये संसारिणः सर्वे मोहजालवशीकृताः ॥८॥

न चाप्नोति पुनर्जन्म लोभमोहजयक्षणात् ।
बन्धनं यैस्तु नोच्छिन्नं भ्रमजाले पतन्ति ते ॥९॥

शरणं व्रज तस्यैव येन मोहो विनिर्जितः ।
आश्रयी भव तस्यैव छिद्यते येन बन्धनम् ॥१०॥

परिच्छेदः ३६

सत्यस्यानुभूतिः

अनित्ये खलु संसारे किञ्चित् सत्यं न विद्यते ।
सत्यं पश्यन्ति ये तत्र तेषां दुःखितजीवनम् ॥१॥

मिथ्याभावविनिर्मुक्त आत्मदृष्टिश्च यो नरः ।
दुःखमोहौ समुच्छिद्य स शान्तिमधिगच्छति ॥२॥

असत्यं यः परित्यज्य लभते सत्यदीपकम् ।
तत्कृतेऽतिसमीपस्थः स्वर्गो भूवलयादपि ॥३॥

यद्यात्मन् शाश्वतं सत्यमनुभूतं न जातुचित् ।
नरयोनौ तदा जन्मग्रहणेनापि को गुणः ॥४॥

इयानेवात्र सत्यांशः शेषस्तत्प्रत्यनीकभाक् ।
इदमेव परिज्ञानं मेधाया वरलक्षणम् ॥५॥

येन सत्यमभिज्ञातं स्वाध्यायतपसोर्बलात् ।
स धन्यो याति तद्धाम यद्गत्वा न निवर्तते ॥६॥

ध्यानप्रभृतियोगाङ्गैर्येन सत्यं समर्जितम् ।
भाविजन्मसमादाने का चिन्ता तस्य योगिनः ॥७॥

अविद्या भवरोगस्य जननी सर्वदेहिनाम् ।
तन्मुक्त्या सह चित्प्राप्तिरेषैव प्राज्ञता परा ॥८॥

मोक्षमार्गस्य यो ज्ञाता मोहारेश्च जयोद्यतः ।
तस्य भावीनि दुःखानि यान्ति शान्तिमयत्नतः ॥९॥

कामः क्रोधस्तथा मोहो यथा स्युः क्षीणशक्तिकाः ।
तथानुगामिदुःखानि क्षीयन्तेऽधिकमात्रया ॥१०॥

परिच्छेदः ३७

कामनाया दमनम्

एकस्यापि पदार्थस्य कामना बीजसंततिः ।
प्रतिजन्तु यतो जन्मनिष्पत्तिः फलशालिता ॥१॥
कामनां कर्तुमिच्छा चेत् तर्हि मुक्तौ विधीयताम् ।
सोऽधिकारी परं तत्र येनेयं कामना जिता ॥२॥
निर्दोषं हि महद्वस्तु निष्कामित्वं महीतले ।
स्वर्गेऽपि नास्ति तत्तुल्यो द्वितीयः कोषसंग्रहः ॥३॥
कामनायाः परित्यागान्नान्या काचित् पवित्रता ।
तत्त्यागस्तु परब्रह्मपदप्राप्त्यभिलाषया ॥४॥
मुक्तास्त एव सन्तीह निर्जिता यैस्तु कामना ।
अन्ये च बन्धनैर्बद्धाः स्वतन्त्रा इव भान्ति ते ॥५॥
हातव्या कामना दूरात् स्वकल्याणं यदीच्छसि ।
तृष्णाजालस्वरूपेयमन्ते नैराश्यकारिणी ॥६॥
विषयाशाः परित्यक्ताः सर्वथा येन धीमता ।
मुक्तिरायाति तत्पार्श्वे निर्दिष्टेनैव वर्त्मना ॥७॥
यो न कामयते किञ्चिद् दुःखान्यपि न तत्कृते ।
बम्भ्रमीति य आशावान् दुःखानां तस्य राशयः ॥८॥
स्थिरं सुखं मनुष्येण प्राप्तुमत्रापि शक्यते ।
दुःखानुबन्धिनी तृष्णा विध्वस्ता चेत् स्वशक्तितः ॥९॥
इच्छाभिस्तु नरः कोऽपि संतृप्तो नैव भूतले ।
पूर्णतृप्तः स एवास्ति येनाशात्याग आदृतः ॥१०॥

परिच्छेदः ३८

भवितव्यता

नरो दृढप्रतिज्ञः स्याद् भाग्यलक्ष्मीप्रसादतः ।
स एव याति शैथिल्यं हतभागस्य दोषतः ॥१॥

शक्तेर्ह्रासो मनुष्याणां दुर्भाग्यात्सम्प्रजायते ।
बुद्धेः स्फूर्तिस्तु लोकानां जागृते पुण्यकर्मणि ॥२॥

कोऽर्थो ज्ञानेन जातेन चातुर्येणापि को गुणः ।
अन्तरात्मा यतो नित्यं सर्वोपरि प्रभाववान् ॥३॥

द्वे वस्तुनीह संसारे विभिन्ने सर्वथा पृथक् ।
एकं तत्र धनाढ्यत्वं द्वितीयं साधुशीलता ॥४॥

शुभोऽप्यशुभतां याति सति भाग्ये पराङ्मुखे ।
अनुकूले सति त्वस्मिन्नशुभोऽपि शुभायते ॥५॥

यत्नेनापि न तद् रक्ष्यं भाग्यं नैव यदिच्छति ।
भाग्येन रक्षितं वस्तु प्रक्षिप्तं नापि नश्यति ॥६॥

महाशासकदैवस्य शासनातिक्रमेण वै ।
उपभोक्तुं न शक्तोऽस्ति कोट्यधीशो वराटिकाम् ॥७॥

निर्धना अपि जायन्ते कदाचित् त्यागबुद्धयः ।
भाविदुःखकृते दैवं परं तत्रास्ति बाधकम् ॥८॥

सुखे न जायते येषामुद्वेलो हर्षसागरः ।
दुःखं प्राप्य कथं लोके शोकमग्ना भवन्ति ते ॥९॥

दैवस्य प्रबला शक्तिर्यतस्तद्ग्रस्तमानवः ।
यदैव यतते जेतुं तदैवाशु स पात्यते ॥१०॥

परिच्छेदः ३१

राजा

सेना मंत्री सुहृत् कोषो दुर्गः सार्कं जनाश्रयः ।
षडेते सन्ति यत्पार्श्वे राजसिंहः स भूतले ॥१॥
साहसं बुद्धिरौदार्यं कार्यशक्तेश्च पूर्णता ।
आवश्यका इमे सर्वे गुणाः शासनकारिणः ॥२॥
शासनाय समुत्पन्नान् न त्यजन्ति गुणास्त्रयः ।
विद्या निर्णयसामर्थ्यं नित्यश्चापि परीक्षणम् ॥३॥
नूनं स एव राजास्ति यो न धर्मात् प्रमाद्यति ।
अधर्मघ्नः सदाचारी वीरः सम्मानरक्षकः ॥४॥
राज्यसाधनविस्फूर्तिर्वृद्धिश्चापि कथं भवेत् ।
कथं कोषस्य पूर्णत्वं कथमायव्ययौ च मे ॥
धनस्य परिरक्षा च कथं मे वर्ततेऽधुना ।
एतत्सर्वं हि विज्ञेयं राज्ञा स्वहितकांक्षिणा ॥५॥ (युग्मम्)
प्रजानां खलु सर्वासां सुलभं यस्य दर्शनम् ।
नाप्युद्वेगकरं वाक्यं तस्य राज्यं समुन्नतम् ॥६॥
औचित्येन समं दानं प्रेमयुक्तश्च शासनम् ।
एतद्द्वयं हि यस्यास्ति स भूपो लोकविश्रुतः ॥७॥
रक्षणे नित्यमुद्युक्तो निष्पक्षो न्यायकर्मणि ।
धन्य एवंविधो भूपः स नूनं भुवि देवता ॥८॥
कर्णयोरप्रियाञ् शब्दाञ् श्रोतुं शक्नोति यो नृपः ।
तस्यच्छत्रतलेऽजस्रं सकलेयं वसुन्धरा ॥९॥
उदारो न्यायसम्पन्नः प्रजासेवी दयारतः ।
य एवं वर्तते भूपो ज्योतिष्मान् स हि राजसु ॥१०॥

परिच्छेदः ४०

शिक्षा

अधिगम्यं हि यज्ज्ञानं सामस्त्येन तदर्जयेत् ।
आचरेच्च तथा नित्यं विद्याप्राप्तेरनन्तरम् ॥१॥

द्वे चक्षुषी मनुष्याणां जातेर्जीवितजागृते ।
एकं वर्णसमाम्नायो द्वितीयश्चाङ्कसंग्रहः ॥२॥

यः शिक्षितः स एवास्ति चक्षुष्मानिह भूतले ।
अन्येषान्तु मुखे नूनमस्ति गर्तद्वयाकृतिः ॥३॥

सहैव नयते मोदं विद्वान् यत्रापि गच्छति ।
प्रमोदोऽपि ततो याति यतश्चायं निवर्तते ॥४॥

न्यक्कृतोऽपि भवञ्छिष्टैर्धनिकैरिव भिक्षुकः ।
प्रयत्नेन पठेद् विद्यां ह्यधमा ज्ञानदूरगाः ॥५॥

तावदेव जलं भूरि यावत् स्रोतो निखन्यते ।
एवञ्च तावती विद्या यावती सा हि पठ्यते ॥६॥

सर्वत्र विदुषां गेहं स्वदेशश्च महीतलम् ।
यावज्जीवं पुनर्मर्त्याः कथं न ज्ञानरागिणः ॥७॥

एकजन्मनि यज्ज्ञानं गृहीतं देहधारिणा ।
उन्नतं तत् करोतीह जीवमागामिजन्मसु ॥८॥

इयं विद्या यथा मेऽस्ति पुष्कलानन्ददायिनी ।
तथैवेयं परस्यापि सुप्रियातो बुधस्य सा ॥९॥

मनुष्याणां कृते ज्ञानमविनाशी महानिधिः ।
दोषत्रुटिविहीनश्च यस्मादन्यन्न वैभवम् ॥१०॥

परिच्छेदः ४१

शिक्षाया अवहेलना

अध्यास्ते संसदः पीठं पूर्णशिक्षामुपेक्ष्य यः ।
शारीपटं विना सोऽयमक्षैर्दीव्यति धूर्तधीः ॥१॥

अनभ्यस्य श्रुतं यो वा काङ्क्षते वाग्मिगौरवम् ।
युवसु ख्यातिसाकाङ्क्षानुरोजा[1] रमणीव सः ॥२॥

सुशिक्षितानां पुरो धैर्यान् मूर्खश्चेन्मौनमास्थितः ।
गण्यते शिक्षितो लोकैर्विदुषां सोऽपि योगतः ॥३॥

कियानपि भवेद् धीमान् शिक्षाशून्यो हि मानवः ।
आद्रियते परं नैव विद्वद्भिस्तस्य मंत्रणा ॥४॥

अवहेलितशिक्षो यः पण्डितं मन्यते निजम् ।
सुस्पष्टं सोऽपि लज्जेत यदा भाषेत संसदि ॥५॥

अशिक्षितजनस्याहो दशोषरमहीनिभा ।
स जीवत्यतो नास्ति वार्ता तद्विषयेऽपरा ॥६॥

विदुषां वैभवहीनत्वं मनसे नैव रोचते ।
आढ्यता किन्तु मूढानामप्रियास्ति ततोऽधिका ॥७॥

भव्यानि सूक्ष्मतत्त्वानि यद्बुद्धिर्नावगाहते ।
तद्देहस्य सुसौन्दर्यं मृण्मूर्तेरिव मण्डनम् ॥८॥

उच्चवंशप्रसूतोऽपि लघुतामेत्यशिक्षितः ।
विद्यावृद्धः कुवंश्योऽपि लभते किन्तु गौरवम् ॥९॥

पशुभ्योऽयं नरो यावान् साधुर्भवति भूतले ।
अशिक्षितेभ्यो वरस्तावान् शिक्षितोऽप्यस्ति विश्रुतः ॥१०॥

---

१. उरोजहीना ।

परिच्छेदः ४४

दोषनिवृत्तिः

क्रोधदर्पौ हतौ यस्य विषये चास्तकामनाः ।
अपूर्वमेव तस्यास्ति सौभाग्यद्योति गौरवम् ॥१॥

प्रभुत्वजनितो दर्पो गृध्नुता विषयान्धता ।
भूपे दोषा भवन्त्येते प्रायेणैव विशेषतः ॥२॥

शुभ्रज्योत्स्नासमा कीर्तिः सुप्रिया यस्य विद्यते ।
स्वदोषं सर्षपाकारं तालतुल्यं स मन्यते ॥३॥

दोषाणां त्वं विनाशाय नित्यं भव समुद्यतः ।
अन्यथा सर्वनाशं ते विधास्यन्तीति निश्चयः ॥४॥

भाविदुःखफलं भोक्तुं यः पूर्वं नैव सज्जितः ।
स तथा निधनं याति यथाग्नौ तृणसंहतिः ॥५॥

परशुद्धिविधेः पूर्वं यः स्वदोषान् विशुध्यति ।
के तं दोषाः स्पृशन्तीह भूपालं योगिसन्निभम् ॥६॥

हा धिक् तं कृपणं मर्त्यं व्ययो यस्य न राजते ।
व्ययस्थानेऽपि तस्यान्ते विनाशो ननु निश्चितः ॥७॥

निन्द्यत्वेन समाः सर्वे दुर्गुणाः खलु भूतले ।
परं तत्रापि कार्पण्यं विभिन्नं परिगण्यते ॥८॥

सहसैव प्रसादोऽपि नृणां दोषाय कल्पते ।
लाभेन वर्जितं कार्यं हातव्यं तच्च दूरतः ॥९॥

स्वाभिलाषास्तथा गोप्या यथा वेद्या निजारिभिः ।
न भवेयुः कथंचित् ता निष्फलाः स्युस्ततो द्विषः ॥१०॥

परिच्छेदः ४५

योग्यपुरुषाणां मैत्री

धर्ममाचरतां येषां वृद्धत्वं वयसा समम् ।
नित्यं तेषां सुवात्सल्यं प्रतिपत्त्या समर्जयेः ॥१॥

यदस्ति भावि वा यच्च दुःखं तद् यो व्यपोहितुम् ।
शक्तस्तेन समं मैत्रीं कुरु सोत्साहचेतसा ॥२॥

सन्मानवैः समं सख्यं प्राप्तं यस्य सुदैवतः ।
असंशयं हि सौभाग्यं वर्तते तस्य धीमतः ॥३॥

गुणाधिकस्य सौहार्दं लब्धं येन सुभक्तितः ।
प्राप्ता तेनेदृशी शक्तिस्तुच्छा यत्पुरतोऽपराः ॥४॥

लोकशासकभूपानां सचिवा दृष्टिसन्निभाः ।
अतस्तेषां नियोगोऽपि विधातव्यो यथागुणम् ॥५॥

सत्पुरुषैः समं मैत्री नित्यं यस्य विराजते ।
अपकारं हि तत्साधोः कर्तुं शक्ता न वैरिणः ॥६॥

अपि भर्त्सयितुं शक्तैः सार्धं सख्यस्य गौरवम् ।
यस्यास्ति तस्य के सन्ति भूतले हानिकारकाः ॥७॥

यस्यापेक्षा न साहाय्ये तस्य यः साधु शास्ति तम् ।
असद्भावेऽपि शत्रूणां स च भूपः क्षयोन्मुखः ॥८॥

यथा लाभो न तस्यास्ति नीवी[1] यस्य न विद्यते ।
व्यवस्थापि तथा नास्ति बुद्धिं बुद्धिमतां विना ॥९॥

विरोधो बहुभिः सार्धं मौर्ख्यं सूचयते यथा ।
तथा सख्यविघातोऽपि सद्भिः साकं ततोऽधिकम् ॥१०॥

---

१. मूलधनम् ।

परिच्छेदः ४६

कुसङ्गपरित्यागः

भद्रो बिभेति दुःसंगात् परः संगच्छते तथा ।
अभद्रेण समं नित्यं यथा स्यात् तत्कुटुम्बभाक् ॥१॥

यथाभूमौ वहत्यम्भस्तत्तथा परिवर्तते ।
यादृशी संगतिस्तस्य पुरुषोऽपि तथाविधः ॥२॥

बुद्धेर्यद्यपि सम्बन्धो मस्तकादेव वर्तते ।
यशसः किन्तु सम्बन्धो गोष्ठ्या उपरि निर्भरः ॥३॥

ज्ञायते हृदये वासः स्वभावस्य सदा जनैः ।
परं तस्य निवासस्तु तद्गोष्ठ्यां यत्र स स्वयम् ॥४॥

मनसः कर्मणश्चापि शुद्धेर्मूलं सुसंगतिः ।
तद्विशुद्धौ यतः सत्यां संशुद्धिर्जायते तयोः ॥५॥

पवित्रं हृदयं यस्य संततिस्तस्य पुण्यभाक् ।
यावज्जीवमसौ भद्रः समृद्धः सन् सुखायते ॥६॥

मनःशुद्धिर्मनुष्यस्य निधानं वसुधातले ।
सत्संगश्च ददातीह गौरवं गुणवत्तरम् ॥७॥

आकरा गुणरत्नानां स्वयं सन्ति मनीषिणः ।
सत्संगतिं तथाप्येते मन्यन्ते शक्तिमन्दिरम् ॥८॥

धर्मो गमयति स्वर्गं पुण्यात्मानं विकिल्विषम् ।
धर्मप्राप्त्यै च सद्वृत्ते नियुङ्क्ते सा सुसंगतिः ॥९॥

सत्संगादपरो नास्ति जनस्य परमः सखा ।
दुःसंगाच्च परो नास्ति हानिकर्ता महीतले ॥१०॥

परिच्छेदः ४७

समीक्ष्यकारिता

व्ययः कियान् कियाँल्लाभो हानिर्वा का भविष्यति ।
इतिपूर्वं विचार्यैव कार्यं कुर्वीत धीधनः ॥१॥

मंत्रज्ञैर्मंत्रिभिः सार्धं मंत्रयित्वैव यो नृपः ।
विदधाति स्वकार्याणि तस्यास्ति किमसम्भवम् ॥२॥

सन्त्येवं हि वहूद्योगा ये पूर्वं लाभदर्शकाः ।
समूलघातका अन्ते तेषु हस्तो न धीमताम् ॥३॥

नैवेच्छति निजात्मानं यो यातुं परिहास्यताम् ।
नासमीक्ष्य क्वचित् किञ्चिद् विधत्तेऽसौ विचारवान् ॥४॥

अयनेषु च सर्वेषु व्यूहादिस्थितिसूचिकाम् ।
युद्धसज्जां विना युद्धं राज्ये वैर्यभिषेचनम् ॥५॥

अकर्मणः समाचारान् नूनं नश्यति मानवः ।
कर्मणश्च परित्यागात् सत्यं नश्यति मानवः ॥६॥

नाविचार्य क्वचित् किञ्चिद् विधातव्यं मनीषिणा ।
पूर्वं प्रारभ्य पश्चाच्च शोचन्ति हतबुद्धयः ॥७॥

सन्मार्गं यः समुत्सृज्य स्वकार्याणि चिकीर्षति ।
तस्य यत्ना ध्रुवं मोघाः साहाय्यं प्राप्य भूर्यपि ॥८॥

उपकारोऽपि कर्तव्यः स्वभावं वीक्ष्य देहिनः ।
अन्यथा स्यात् प्रमादेन यातनैव विधायिनः ॥९॥

कुरु तान्येव कार्याणि यान्यनिन्द्यानि सर्वथा ।
निन्द्यकार्याद् यतः प्राणी प्रतिष्ठाभंगमाप्नुयात् ॥१०॥

परिच्छेदः ४९

शक्तेर्विमर्शः

पूर्वं संचिन्त्य विघ्नौघान् शक्तिं स्वस्य परस्य च ।
सध्रीचस्तद्बलञ्चापि[1] दृष्ट्वा कुर्वीत वाञ्छितम् ॥१॥

यथायोग्यकृताभ्यासः स्वशक्तेः पूर्णवेदकः ।
अनुगामी च यो बुद्धेस्तस्य यानं जयोन्मुखम् ॥२॥

स्वं शक्तावधिकम्मन्या बभूवुर्बहवो नृपाः ।
स्वशक्तेरधिकं कार्यं ते प्रारभ्य क्षयं गताः ॥३॥

अहङ्कारविमूढात्मा ज्ञानशून्यो बलाबले ।
शान्तिजीवी च यो नास्ति त्रय एते विनाशिनः ॥४॥

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः ।
केकिपत्रैर्यतः प्राज्यै[2] रथभंगो विधीयते ॥५॥

शक्तिं समीक्ष्य भावानां क्रियां कुर्वीत पण्डितः ।
अधियानं हि नाशाय तरोः शिखरवर्तिनः ॥६॥

विभवं स्वस्य संवीक्ष्य कर्तव्यमतिसर्जनम् ।
अनुरूपं बुधैरेष योगक्षेमविधिः शुभः ॥७॥

संकीर्णापि न चिन्त्यास्ति लोके पूरकनालिका ।
व्ययनाली न विस्तीर्णा यद्यस्ति गृहिणो गृहे ॥८॥

यस्यायव्यययोर्नास्ति लेखो नापि विचारणा ।
कार्यात्पूर्वं स्वशक्तेश्च तन्नामापि न शिष्यते ॥९॥

यः स्ववित्तमनालोच्य व्ययते मुक्तहस्तकः ।
अविलम्बं क्षयं याति विपुलं तस्य वैभवम् ॥१०॥

---

१. सहायकान् । २. प्रचुरै. ।

परिच्छेदः ४९

अवसरसमीक्षा

जयत्यवसरं प्राप्य दिवोलूकं हि वायसः ।
एवञ्चावसरो हेतुर्विजये भूपतेरपि ॥१॥

समयं वीक्ष्य कार्याणां करणं मन्यते बुधः ।
प्रेमरज्वा स्वसौभाग्यश्रियो हि दृढबन्धनम् ॥२॥

क्षेत्रं साहाय्यसम्पत्तिं पूर्वं वीक्ष्य करोति यः ।
कार्यं साधनविज्ञातुस्तस्यास्ति किमसम्भवम् ॥३॥

यदि स्ववसरं वेत्सि साधनानि तथैव च ।
शक्नोषि निजवीर्येण विजेतुं जगतीतलम् ॥४॥

कार्यकालं प्रतीक्षन्ते जोषं हि जयरागिणः ।
न क्षुभ्यन्ति कदाचित्ते नाप्युत्तापविधायिनः ॥५॥

संघातकरणात् पूर्वं यथा मेषोऽपसर्पति ।
तथाऽकर्मण्यता लोके कर्मण्यस्यापि दृश्यते ॥६॥

अमर्षस्य प्रकाशो हि त्वरितं नैव धीमताम् ।
तं गुप्तं हृदये कृत्वा तत्कालं स प्रतीक्षते ॥७॥

विनेतव्यो रिपुस्तावद् यावत्तस्य शुभोदयः ।
विनिपातो यदा तस्य सुखोच्छेद्यस्तदा हि सः ॥८॥

अमोघकालं संप्राप्य विचिकित्सां विहाय च ।
क्षिप्रमेव विधातव्यं कार्यं चेदपि दुष्करम् ॥९॥

पूर्वं निश्चेष्टवदङ्गानि प्राप्ते काले विचक्षणः ।
अनुकूले पुनः [illegible] ाधेत रिपुम् ॥१०॥

परिच्छेदः ५२

पुरुषपरीक्षा

सदसच्चोभयं वेत्ति परमाश्रयते शुभम् ।
एवं यस्य मनोवृत्तिर्नियोक्तव्यः स कर्मसु ॥१॥

शासनाङ्गेषु विस्फूर्तिर्यस्यास्ति प्रतिभावलात् ।
यो हर्ता च विपत्तीनां स कार्यः कार्यवाहकः ॥२॥

दयावान् बुद्धिसम्पन्नः कार्येषु द्रुतनिश्चयः ।
यो लोभेन विनिर्मुक्तः स कार्यो राज्यसेवकः ॥३॥

ईदृशोऽपि जनाः सन्ति येषां सर्वत्र पौरुषम् ।
परं तेऽपि विलोक्यन्ते काले कर्तव्यविच्युताः ॥४॥

कार्येषु पूर्णदाक्षिण्यं शक्तिं शान्तिविधायिनीम् ।
इति वीक्ष्यैव दातव्यं कार्यं न प्रीतिमात्रतः ॥५॥

मानवं योग्यतां वीक्ष्य योग्यकर्मणि योजयेत् ।
योग्यकाले च सम्प्राप्ते कार्यारम्भञ्च कारयेत् ॥६॥

शक्तिं कार्यञ्च वीक्षेत पूर्वं भृत्यस्य भूमिपः ।
पश्चात्कार्यं तदायत्तं[1] विदध्याद् गतसंशयः ॥७॥

तत्पदायोपयुक्तोऽयं यद्येवं निश्चितं त्वया ।
तस्यानुरूपशोभापि तर्हि त्वय्यवशिष्यते ॥८॥

भक्ते दक्षे च यो भृत्ये रुष्टो भवति भूपतिः ।
नूनं तस्य भवेदेव भाग्यश्रीः परिवर्तिता ॥९॥

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत भृत्यकार्याणि भूप्रभुः ।
भृत्या यत्र विशुद्धा हि तद्राज्यं न विपद्यते ॥१०॥

---

१. तदधीनम् ।

परिच्छेदः ५३

बन्धुता

एकैव बन्धुता यत्र स्नेहस्थैर्यं विलोक्यते ।
अन्यथा विपदां चक्रे क्व च तस्यास्ति दर्शनम् ॥१॥
गुणाढ्ये यत्र बन्धूनां स्नेहो नैवापचीयते ।
तस्य भाग्यवतो वृद्धेः कोऽपि नास्ति निरोधकः ॥२॥
भूत्वा सहृदयो येन बन्धुस्नेहो न लभ्यते ।
तथैव विद्यते सोऽयं निराधारं सरो यथा ॥३॥
वैभवस्य किमुद्देशः किं फलं वाथ विद्यते ।
सम्बन्धिनां समाह्वानं प्रतिपत्त्या च मोहनम् ॥४॥
वाण्यां यस्यातिमाधुर्यमौदार्यञ्च करे तथा ।
तस्य गेहं समायान्ति बन्धवो बद्धपंक्तयः ॥५॥
सार्वं यस्यामितं दानं क्रोधशून्यश्च जीवनम् ।
लोकबन्धुः स एवास्ति पश्यान्विष्य महीतलम् ॥६॥
काको भक्ष्यं यथा स्वार्थाद् बन्धुभ्यो न निगूहते ।
एवं हि प्रकृतिर्यस्य वैभवं तस्य सद्मनि ॥७॥
राजा यथागुणं बन्धून् सत्कुर्याद् गुणरागतः ।
अन्यथा बहवः सन्ति स्वस्वत्वामर्षिणो जनाः ॥८॥
विरागहेतोः संत्यागादपरागोऽपि हीयते ।
एवं चित्तविशुद्धया तु गताप्यायाति बन्धुता ॥९॥
त्यक्तस्नेहोऽपि बन्धुश्चेद् भूयोऽप्ययाति बन्धुताम् ।
सहर्षो मिलतेनामा धृत्वा किन्तु सतर्कताम् ॥१०॥

परिच्छेदः ५६

अत्याचारः

य: प्रजा बाधते नित्यमत्याचारपरायणः ।
शासकोऽसौ न राजास्ति सोऽधमः किन्तु घातकात् ॥१॥

शासनं यस्य हस्तेऽस्ति विनम्रमपि तद्वचः ।
देहि सर्वं न किञ्चित्ते लुण्टाकस्य वचोनिभम् ॥२॥

राज्ये शासनचक्रं यो नृपो नित्यं न वीक्षते ।
न मार्ष्टि च त्रुटीः सर्वाः प्रभुत्वं तस्य क्षीयते ॥३॥

अहो तस्मिन् महाशोको निर्विचारे नरेश्वरे ।
न्यायादपैति यस्तस्य राज्यं वित्तञ्च नश्यति ॥४॥

असंशयं नृपान्यायत्रस्तानामश्रुविन्दवः ।
वाहयन्ति तदीयां हि समृद्धिं सकलामपि ॥५॥

यशसा भूष्यते भूपो यदि न्यायेन शासनम् ।
अकीर्त्या दूष्यते सैव यद्यन्यायेन शासनम् ॥६॥

या दशा जायते क्षोण्या वर्षाशून्ये नभस्तले ।
सा दशा सर्वभूतानां राज्ये निर्दयभूपतेः ॥७॥

अन्यायिनो महीपस्य राज्ये सर्वेऽपि दुःखिनः ।
परा हि दुर्दशा तेषु धनिनां सर्वतोऽधिका ॥८॥

उच्चरते यदा दोषाद्धर्मं न्यायश्च भूपतिः ।
योग्यकालेऽपि तद्राज्ये जायतेऽवग्रहस्तदा ॥९॥

न्याय्यं हि शासनं जह्याद् यदि राजा स्वदोषतः ।
धेनुस्तन्यविलोपः स्याद् द्विजविद्या च विस्मृता ॥१०॥

परिच्छेदः ५७

भयप्रदकृत्यत्यागः

सुप्रणीतं यथासीमं दण्डं दद्यात् तथा नृपः ।
यथा नैव पुनर्दोषं कुर्याद् दण्डितमानवः ॥१॥
स्वप्रभुत्वबलं लोके चिरं वाञ्छन्ति ये नृपाः ।
मृद्वाघातकरं दण्डं ते गृह्णन्तु स्वपाणिषु ॥२॥
योऽसिनैव प्रजाः शास्ति स भूमीशो भयावहः ।
तत्सखः को भवेल्लोके तस्य नाशो विनिश्चितः ॥३॥
सुविख्यातं प्रजावर्गे निर्दयं यस्य शासनम् ।
अकाले स पदाद्भ्रष्टो भूत्वा याति यमालयम् ॥४॥
अगम्यभीमभूपस्य वैभवं तेन सन्निभम् ।
निधिना यत्र संवासो राक्षसस्य दुरात्मनः ॥५॥
योऽमर्षणो नृपः क्रोधाद् ब्रवीत कटुकं वचः ।
समृद्धं वैभवं तस्य द्रुतं नङ्क्ष्यति नङ्क्ष्यति ॥६॥
दण्डदानं बहिःसीमं नित्यं कर्कशभाषणम् ।
इति शस्त्रद्वयं तीक्ष्णं छिनत्ति प्रभुतां दृढाम् ॥७॥
न गृह्णाति पुरा बुद्धिं मंत्रिभ्यो यो महीपतिः ।
क्षोभं याति च वैफल्ये क्षीयते तस्य वैभवम् ॥८॥
कालं लब्ध्वापि येनाहो रक्षोपाया अनादृताः ।
स वेपथुं रणे पश्येत् स्वं स्तब्धो द्रुतपातितम् ॥९॥
यच्चाटुकारिमूर्खाणां परामर्शोऽस्ति निर्भरम् ।
तत् कुत्स्यं शासनं त्यक्त्वा को भारो भून्यथाकरः ॥१०॥

परिच्छेदः ५८

चारुशीलम्

चारुशीलात्परं नास्ति सुरम्यं मोददायकम् ।
कार्यं सुचारुरूपेण सृष्टेस्तेनैव वर्तते ॥१॥
जीवनस्यापि माधुर्यं शीले सत्येव विद्यते ।
भारभूता विपर्यासे जायन्ते मानवा भुवि ॥२॥
अहो गीतेन किं तेन यन्न केनापि गीयते ।
नेत्रेणापि च किं तेन यत्र स्नेहो न दृश्यते ॥३॥
कोऽर्थो नेत्रेण मात्रायां यन्नादरपरं परे[1] ।
केवलं मुखमुद्रायां नूनमस्यास्ति दर्शनम् ॥४॥
नेत्रयोर्भूषणं शीलं यत्र तन्नैव विद्यते ।
अहो ते लोचने नूनं वर्तेते शिरसि क्षते ॥५॥
जायते नैव यस्याक्षि सविचारं परं प्रति ।
सनेत्रोऽपि स किंनेत्रो निर्विशेषश्च भूरुहात् ॥६॥
सत्यमेवाक्षिहीनास्ते येषु नास्ति परादरः ।
सनेत्राः सन्ति ते ये च परदोषे दयालवः ॥७॥
यः कर्तव्ये न वैलक्ष्यं कृत्वा सत्कुरुते परान् ।
तस्य रिक्थे महीराज्यं वर्तते गुणशालिनः ॥८॥
दुःखदेभ्यः क्षमादानं दत्वा नूनं विमोचनम् ।
सहैव स्नेहदानं चेत् ख्याता चित्तसमुन्नतिः ॥९॥
यदीच्छसि निजं लोके शीलनेत्रसमन्वितम् ।
तद्विषं तर्हि पानीयं यत् ते साक्षाद् विमिश्रितम् ॥१०॥

---

१. परस्मिन् ।

परिच्छेदः ५१

गुप्तचरः

नेत्रद्वयेन भूपालो वीक्षते राज्यसंस्थितिम् ।
राजनीतिस्तु तत्रैकं द्वितीयं चरसंज्ञकम् ॥१॥

भूपतेरितिकर्तव्ये कर्तव्योऽयं विनिश्चितः ।
केषाञ्चिच्चरितं पश्येत् प्रत्यहं चरचक्षुषा ॥२॥

न वेत्ति घटनाचक्रं चारैर्दूतैश्च यो निजैः ।
स शक्तोऽपि दिशो जेतुं न शक्नोति महीपतिः ॥३॥

रिपूणां राजभृत्यानां बान्धवानाञ्च भूपतिः ।
गतिं मतिञ्च विज्ञातुं नियुञ्जीत 'चरं' सदा ॥४॥

आकृतिर्यस्य नुर्नास्ति क्वापि सन्देहकारिणी ।
वाग्मी निगूढभावश्च स चरो गुणवत्तरः ॥५॥

वर्णितापसवेशेषु स्वान्तर्भावं निगूहयन् ।
येन केनापि यत्नेन स्वकार्यं साधयेच्चरः ॥६॥

परमर्मसमादाने निपुणो यो निसर्गतः ।
यस्य कार्यमसंदिग्धं शुद्धश्चासौ चरो मतः ॥७॥

अपरस्यावसर्पस्य तादृशीमेव सूचनाम् ।
प्राप्य पूर्वचरस्योक्तौ कुर्यात् प्रामाण्यनिर्णयम् ॥८॥

परस्परमजानन्तः स्पशाः कुर्युः समीहितम् ।
त्रयाणामेकवाक्ये तु सत्यं बुध्येत भूपतिः ॥९॥

न हि स्वराज्यचाराणां पुरस्कारं प्रकाशयेत् ।
अन्यथाकरणे राज्ञा राज्यमेव प्रकाश्यते ॥१०॥

---

१. नरस्य ।

परिच्छेदः ६०

उत्साहः

उत्साहभूषिता एव सत्यं सम्पत्तिशालिनः ।
तद्विरुद्धाः पुनर्नैव स्वामिनः स्वश्रियामपि ॥१॥

उत्साह एव लोकेऽस्मिन् सत्यं परमवैभवम् ।
अन्यद्धि सर्वमैश्वर्यं क्षयं यात्येव कर्हिचित् ॥२॥

उत्साहसाधनं येषां करे नित्यं विराजते ।
ते धन्याः सर्वनाशेन न सीदन्ति कदाचन ॥३॥

स धन्यो यः श्रमान्नैव दूरादेव पलायते ।
सौभाग्यश्रीस्तदावासमन्विष्यायात्यनेहसि ॥४॥

क्षुपेभ्यो वारिदानेन पुष्पश्रीः सूच्यते यथा ।
तथोत्साहेन भाग्यश्रीर्ज्ञायते देहधारिणः ५॥

निजलक्ष्यं सदोदात्तं कार्यं कुशलबुद्धिभिः ।
वैफल्येऽपि यतो जाते कलङ्कः कोऽपि नो भवेत् ॥६॥

पराजितोऽप्यनुत्साहं भजते नैव साहसी ।
शराघातं रणे प्राप्य दृढपादो गजो यतः ॥७॥

तं पश्य क्षीयते लोके यस्योत्साहः शनैः शनैः ।
अपारवैभवानन्दस्तस्य भाग्ये न वर्तते ॥८॥

पीनोन्नतेन देहेन खरदन्तैश्च दन्तिनः ।
को गुणो यदि वीक्ष्यैव मृगेन्द्रं म्रियते मनः ॥९॥

अस्ति नूनं महोत्साहो महाशक्तिर्महीतले ।
ये सन्ति तेन हीनास्ते पशवो देहभेदतः ॥१०॥

परिच्छेदः ६१

आलस्यत्यागः

आलस्यं कुत्सितो वायुः पिण्डाघातेन यस्य हा ।
लुप्यते राजवंशस्याखण्डज्योतिर्धरातलात् ॥१॥

अयमालस्यवानित्थं भाषन्तां मानवा वरम् ।
किन्त्वालस्यं स्वयं बुद्ध्वा हेयं वंशोन्निनीपुणा ॥२॥

घातकं रोचते यस्मा आलस्यं पश्य तं जडम् ।
सह्यभागी स्वयं पश्येज्जीवन्नेव कुलक्षयम् ॥३॥

आलस्यादुच्चकार्येषु येषां हस्तो न वर्तते ।
तद्गृहं क्षीणतां प्राप्य सङ्कटेषु पतिष्यति ॥४॥

कालस्य यापनं निद्रा शैथिल्यं विस्मृतिस्तथा ।
उत्सवस्य महानावः सन्त्येता हतभागिनः ॥५॥

आलस्यनिरतो लोकः कृपां लब्ध्वापि भूपतेः ।
कर्तुं समुन्नतिं नैव शक्नोति जगतीतले ॥६॥

येषामुदात्तकार्येषु व्यापारो नास्ति हस्तयोः ।
न्यक्कारं वा घृणां नित्यं सहन्ते ते प्रमादिनः ॥७॥

आलस्यमन्दिरं लोके जायते यत्कुटुम्बकम् ।
विपद्यते सपत्नानां क्षिप्रमेव करेषु तत् ॥८॥

विपदुन्मुखोऽपि लोकोऽयं चेत् स्याद् विगतालसः ।
स्तभ्नन्ति तर्हि तत्रैवायान्तोऽपि क्रूरसंकटाः ॥९॥

यो न वेत्ति महीपाल आलस्यं नित्यकर्मयुक् ।
त्रैविक्रमैर्मितां पादैः स शास्ति सकलामिलाम् ॥१०॥

परिच्छेदः ६२

पुरुषार्थः

अशक्यमिति संभाव्य कर्म मा मुञ्च दूरतः ।
उद्योगो वर्तते यस्मात् कामसूः सर्वकर्मसु ॥१॥

सामिकार्यं न कुर्वीत लोकरीतिविशारदः ।
तद्विधात्रे यतः कोऽपि स्पृहयेन्न सचेतनः ॥२॥

न जहाति विपत्तौ यः सान्निध्यं तस्य गौरवम् ।
सेवारूपनिधिन्यासाल्लभ्यते तत् सुदुर्लभम् ॥३॥

अनुद्योगवतो नूनमौदार्यं क्लीबखड्गवत् ।
यतस्तयोर्द्वियोर्मध्ये नैकं चास्ति चिरस्थिरम् ॥४॥

सुखे रतिर्न यस्यास्ति कामना किन्तु कर्मणः ।
आधारः स हि मित्राणां विपत्तावश्रुमार्जिकः ॥५॥

उद्योगशीलिता लोके वैभवस्य यथा प्रसूः ।
दारिद्र्याशक्तियुग्मस्य जनकोऽस्ति तथालसः ॥६॥

आलस्यं वर्तते नूनं दारिद्र्यस्य निवासभूः ।
गतालस्यश्रमश्चाथ कमलाकान्तमन्दिरम् ॥७॥

नापि लज्जाकरं दैवाद् वैभवं यदि नश्यति ।
वैमुख्यं हि श्रमात् किन्तु लज्जायाः परमं पदम् ॥८॥

वरमस्तु विपर्यस्तं भाग्यं जातु कुदैवतः ।
पौरुषन्तु तथापीह फलं दत्ते क्रियाजुषे ॥९॥

शश्वत्कर्मप्रसक्तो यो भाग्यचक्रे न निर्भरः ।
जय एवास्ति तस्याहो अपि भाग्यविपर्यये ॥१०॥

---

१. अर्धकार्यम् ।

परिच्छेदः १३

विपदि धैर्यम्

हसन् भव पुरोभागी विपत्तीनां समागमे ।
विपदां हि जये हासः सहायः प्रबलो मतः ॥१॥

अव्यवस्थितचित्तोऽपि भवन्नेकाग्रमानसः ।
विपदां चेत् पुरःस्थायी तत्क्षुब्धाब्धिः प्रशाम्यति ॥२॥

विपदो मन्यते नैव विपदो यो हि मानवः ।
ध्रुवं तस्य निवर्तन्ते विपन्नाः स्वयमापदः ॥३॥

प्राणेषु त्यक्तमोहः सन् यतते यो लुलायवत्[1] ।
जेतुं सर्वापदस्तस्य हताशाः प्रतियान्ति ताः ॥४॥

स्वविपक्षे विपत्तीनां सज्जितां महतीं चमूम् ।
दृष्ट्वापि यस्य नाधैर्यं ततो बिभ्यति ताः स्वयम् ॥५॥

नासीत् सौभाग्यकालेऽपि प्रमोदो यस्य सद्मनि ।
स कथं कथयेत् सर्वं 'हा संप्रति विपद्गतः' ॥६॥

इति वेत्ति स्वयं प्राज्ञो यद्देहो विपदां पदम् ।
अतएव विपन्नोऽपि नानुशोचति पण्डितः ॥७॥

यो विलासप्रियो नास्ति मन्यते चापदस्तथा ।
सहजा जन्मना साकं स दुःखार्तो न जायते ॥८॥

यस्य नास्ति महाहर्षः सम्पत्तीनामुपागमे ।
विषादोऽपि कथं तस्य भवेत् तासामपागमे ॥९॥

मन्यते सुखमायासे धर्मविगळ्ये च यः ।
तं स्तुवन्ति [illegible] रुद्धा अपि वैरिणः ॥१०॥

1. महिष -

परिच्छेदः ६४

मंत्री

महत्त्वपूर्णकार्याणां सम्पादनकुशाग्रधीः ।
समयज्ञश्च तेषां यः स मंत्री स्यान्महीभुजाम् ॥१॥

कौलीन्यं पौरुषं श्रेष्ठं स्वाध्यायो दृढनिश्चयः ।
प्रजोत्कर्षाय सस्नेहचेष्टा मंत्रिगुणा इमे ॥२॥

रिपूणां भेदकर्तृत्वे मित्राणां सख्यवर्धने ।
अरिभिश्च पुनःसन्धौ शक्तिर्यस्य स मंत्रदः ॥३॥

साधूद्योगेषु सुप्रीतिः साधनानां विनिश्चयः ।
सम्मतिः स्पष्टरूपा च मंत्रदातुरिमे गुणाः ॥४॥

स्थानावसरसंवेदी नियमज्ञो वहुश्रुतः ।
सम्यग्विचार्य वक्ता यो मंत्री योग्यः स भूतले ॥५॥

स्वाध्यायाद् यस्य संजाता प्रतिभा सर्वतोमुखी ।
दुर्ज्ञेयं तस्य किं वस्तु विद्यते ननु विष्टपे ॥६॥

भवानुभवसम्पन्नो विद्यावित्तो[1] भवन्नपि ।
पूर्वं विमृश्य मेधावी व्यवहारं सदाऽऽवहेत् ॥७॥

निर्विचारोऽस्तु भूपालो यदि वा कार्यबाधकः ।
तथापि मंत्रिणा वाच्यं हितमेव नरेश्वरे ॥८॥

अनुशास्ति विनाशाय यो मंत्री मंत्रणागृहे ।
सप्तकोटिरिपुभ्योऽपि स शत्रुरधिको मतः ॥९॥

नूनं विमर्शशून्या धीः संप्राप्यापि सुपद्धतिम् ।
व्यवहारे स्खलत्येव सिद्धिश्चापि न गच्छति ॥१०॥

---

१. विद्याया प्रसिद्धः ।

परिच्छेदः ६५

वाक्पटुता

वाग्मित्वं हि वरीवर्ति वरदानं विलक्षणम् ।
तन्नांशोऽन्यस्य कस्यापि स्वतःसिद्धं तदीप्सितम् ॥१॥

मृत्युर्वसति जिह्वाग्रे जिह्वाग्रे ननु जीवनम् ।
अतः सुधीर्वदेद् वाणीं विचार्यैव शुभां सदा ॥२॥

वाचस्ता एव सुश्लाघ्या याः सक्ताः[१] सख्यवर्धने ।
रिपूणामपि कल्पन्ते हृदयाकर्षणाय च ॥३॥

पर्यालोच्य नरः पूर्वं पश्चाद् भाषेत भारतीम् ।
धर्मवृद्धिरतो नान्या लाभश्चापि शुभावहः ॥४॥

वाणी सैव प्रयोक्तव्या यस्यां किञ्चिन्न हेयता ।
अनुल्लंघ्या च या सर्वैर्लब्धसार्वगुणोदया ॥५॥

आशुविद् यः परार्थानां सुवक्ता चित्तकर्षकः ।
अधिकारी स एवास्ति राजनीतेर्विदांवरः ॥६॥

नैव स्खलति यस्यान्तः सुवक्तुर्वादसंसदि ।
कथं पराजयः शक्यस्तस्य निर्भीकचेतसः ॥७॥

ओजस्वि वाङ्मयं यस्य विश्वास्यं परिमार्जितम् ।
तदिङ्गिते नरीनर्ति समस्तं वसुधातलम् ॥८॥

शब्दैः परिमितैरेव स्वाभिप्रायप्रकाशनम् ।
ये जना नैव जानन्ति तेषु वै वावदूकता ॥९॥

निजार्जितं यदि ज्ञानं स्वयं व्याख्यातुमक्षमः ।
नरो न शोभते तद्वन् निर्गन्धं कुसुमं यथा ॥१०॥

---

१. तत्परा. ।

परिच्छेदः ६६

शुभाचरणम्

मित्रत्वेन समायाति साफल्यं सर्ववस्तुषु ।
शुभाचरणवृत्तिस्तु नूनं सर्वत्र कामधुः ॥१॥
यतो न जायते कीर्तिर्लाभश्चापि शुभोदयः ।
वैमुख्यमेव सुश्रेयस्ततोऽस्ति हितकारकम् ॥२॥
अभ्युदयं सदाराध्यं यदि लोके समीहसे ।
तत्कार्यं तर्हि हातव्यं येन कीर्तिर्विहन्यते ॥३॥
विपत्कालेऽपि येषान्तु वस्तुयाथार्थ्यनिर्णयः ।
कुर्वन्ति नैव ते कर्म क्षुद्रं कीर्तिविराधकम् ॥४॥
किं कृतन्नु मयाद्येति पश्चात्तापविधायकम् ।
कार्यं नैव सुधीः कुर्यात् कृतं नाम्रेडितं पुनः ॥५॥
विगर्हितानि सन्तीह यानि कार्याणि साधुभिः ।
जनन्या अपि रक्षार्थं तानि कुर्यान्न जातुचित् ॥६॥
शुभाचारवतः पुंसो दारिद्र्यमपि राजते ।
नत्वाचारविहीनस्य वैभवं धर्मवर्जितम् ॥७॥
निषिद्धान्यपि कार्याणि यो नरो नैव मुञ्चति ।
सफलस्यापि तस्याहो निर्वृतिर्नैव मानसे ॥८॥
विलापैरर्जिता लक्ष्मीः क्रन्दनैः सह नश्यति ।
धर्मेण सञ्चिता सम्पन् मध्ये क्षीणापि वृद्धये ॥९॥
आमकुम्भे भृतं नीरं यथैवास्ति निरर्थकम् ।
तथैव सञ्चितं वित्तं मायया परवञ्चनात् ॥१०॥

परिच्छेदः ६७

स्वभावनिर्णयः

मनोबलात् किमन्यत्र महत्त्वं यशसां चये ।
इतरेषां यतो नास्ति तत्राल्पापि किलांशता ॥१॥
विनिश्चयाय कार्याणां विदुषां निर्णयद्वयम् ।
पूर्णदार्ढ्यं निजोद्देशेऽशक्यस्याथविमोचनम् ॥२॥
न व्यनक्ति निजोद्देशं सिद्धेः पूर्वं सुकर्मठः ।
अलंघ्या अन्यथा पुंसो जायन्ते विपदां चयाः ॥३॥
कथनं सुलभं लोके यस्य कस्यापि वस्तुनः ।
यथापद्धति हस्तेन करणं किन्तु दुर्लभम् ॥४॥
विधानादुच्चकार्याणां सन्ति ये कीर्तिशालिनः ।
सेवन्ते तान् नृपा नत्वा श्लाघन्ते च जनाः सदा ॥५॥
पुमाँश्चेत् सत्यसंकल्पः पूर्णशक्त्या च संभृतः ।
तदेव लभ्यते तर्हि यथा यत्तेन काम्यते ॥६॥
आकृत्यैव नरः कोऽपि नैष्कर्म्यं नाधिगच्छति ।
स एव दृश्यते काले कार्याधारो रथाक्षवत् ॥७॥
सद्बुद्ध्या यत् त्वया कार्यं स्वकर्तव्ये विनिश्चितम् ।
तत्सिद्ध्यै पूर्णशक्त्यैव यतस्वाचलचेतसा ॥८॥
प्रसादकेषु कार्येषु संलग्नो भव चेतसा ।
आक्रान्तोऽपि शतैः कष्टैर्यावदन्तं दृढो भवन् ॥९॥
चरित्रगठने येषां शक्तिमत्ता न विद्यते ।
तेऽन्यदिक्षु महान्तोऽपि न लोके गौरवान्विताः ॥१०॥

परिच्छेदः ६९

कार्यसञ्चालनम्

क्रियते हि परामर्शो निश्चयार्थं विचक्षणैः ।
निश्चये च पुनर्जाते निस्सारं कालयापनम् ॥१॥

अविलम्बसहं कार्यमाशु कुर्वीत धीधनः ।
चिरभावि च यत्कार्यं तत् कुर्याच्छान्तिमास्थितः ॥२॥

लक्ष्येणैव हि गन्तव्यं स्थितिश्चेदनुकूलिनी ।
वामाथ तर्हि गन्तव्यं स्वल्पबाधामये पथि ॥३॥

कार्यं सामिकृतं शत्रुर्नास्ति यश्च पराजितः ।
समये वृद्धिमापन्नौ शेषाग्निरिव दुःखदौ ॥४॥

क्षेत्रं साधनसम्पत्तिं द्रव्यं भावञ्च कालवत् ।
पूर्वं विचार्य पश्चाच्च कार्यं कुर्वीत कोविदः ॥५॥

अत्र कार्ये कियाँल्लाभः श्रमश्चापि कियानथ ।
बाधाश्चापि कियत्यः स्युरिति पूर्वं विचिन्तयेत् ॥६॥

कार्यसिद्धेरसौ मार्गो विद्वद्भिः परिनिश्चितः ।
यद् रहस्यविदं प्राप्य तद्रहस्यं समर्जयेत् ॥७॥

वने हि वशितां याति गजेनैव गजो यथा ।
कार्यक्षेत्रे तथा धीमान् कार्यं कार्येण साधयेत् ॥८॥

मित्रोपहारदानाद्ध्यधिकेयं शुभक्रिया ।
यद् द्रुतं हि विधातव्या रिपूणां सांत्वनक्रिया ॥९॥

दुर्बलाय हिता नैव संकटेषु चिरस्थितिः ।
अतो बलवता साकं काले सन्धिं समर्जयेत् ॥१०॥

परिच्छेदः ६१

राजदूतः

लोकपूज्ये कुले जन्म हृदयं करुणामयम् ।
नृपाणां मोददातृत्वं राजदूतगुणा इमे ॥१॥
निसर्गात् प्रेमवृत्तित्वं वाग्मित्वं विस्मयावहम् ।
प्रतिभावत्त्वञ्च दूतानां त्रयो ह्यावश्यका गुणाः ॥२॥
स्वामिलाभाय येनात्तो[१] भारो भूपतिमण्डले ।
आवश्यकं हि तद्वाण्यां पाण्डित्यं सर्वतोऽधिकम् ॥३॥
प्रभावजननी यस्य मुखमुद्रास्ति पश्यताम् ।
विद्याविभूषितो यश्च स दूतार्हो महीभुजाम् ॥४॥
संक्षेपभाषणं वाण्यां माधुर्यं कटुत्वभाषणम् ।
सुदूताः साधनैरेतैः कुर्वन्ति स्वामिनो हितम् ॥५॥
प्रभावोत्पादिका वाणी वैदुष्यं समयज्ञता ।
प्रत्युत्पन्नमतित्वञ्च दूतस्य प्रथमे गुणाः ॥६॥
स्थानावसरकर्त्तव्यबोधे यस्यातिपाटवम् ।
आलोचितोक्तशब्दो यः स दूतो दूत उच्यते ॥७॥
निसर्गहृदयग्राही विशुद्धात्मा सदाशयः ।
दृढाश्च यस्य संकल्पास्तं दूत्ये[२] खलु योजयेत् ॥८॥
आवेशादपि न ब्रूते दुर्वाक्यं यो विचक्षणः ।
परराष्ट्रे स एवास्ति योग्यः शासनहारकः ॥९॥
च्यवन्ते नैव कर्तव्यात् प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
सुदूतः पूर्णयत्नेन साध्नोति स्वामिनो हितम् ॥१०॥

---

१. गृहीतो । २. दूतवणिग्भ्याश्चेति यत् ।

परिच्छेदः ७०

नृपाणां समक्षे व्यवहारः

नातिदूरसमीपस्थो नृपं सेवेत पण्डितः ।
शीतबाधानिवृत्त्यर्थं यथाग्निं सेवते जनः ॥१॥

नृपस्याभीष्टवस्तूनां लालसां त्यज दूरतः ।
ततो वैभवसंप्राप्तेरेषमंत्रोऽस्त्यबाधितः ॥२॥

विरागं भूपतेः प्राप्तुं यदि त्वं नैव वाञ्छसि ।
मुञ्च तर्हि महादोषान् यतः शङ्कास्ति दुस्त्यजा ॥३॥

राज्ञः पुरो न केनामा कर्तव्यं कर्णभाषणम् ।
स्मितेङ्गिते च नो कार्ये आत्मनोभूतिमिच्छता ॥४॥

निलीय शृणुयान्नैव वार्तां काञ्चिन् महीपतेः ।
यत्नश्चापि न कर्तव्यस्तद्गुह्यस्यावबोधने ॥५॥

कालोऽस्ति सांप्रतं कीदृक् प्रकृतिश्चास्य कीदृशी ।
इति पूर्वं समालोच्य वाचा तदनुमोदयेत् ॥६॥

मोदो भवति याः श्रुत्वा वाचस्ता व्याहरेन् नृपम् ।
याभिश्च कोऽपि लाभो न पृच्छ्यमानो न ता वदेत् ॥७॥

बन्धुमल्पवयस्कं वा मत्वा भूपं न हेडताम् ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥८॥

निर्द्वन्द्वः शुद्धदृष्टिर्यो लब्धभूपप्रसादकः ।
न तत्कार्यं स कुर्वीत रुष्टः स्याद् भूपतिर्यतः ॥९॥

घनिष्ठो दृढमित्रश्च वर्तते मम भूपतिः ।
इति मत्वापकृत्ये यो रतो नूनं स नश्यति ॥१०॥

परिच्छेदः ७१

मुखाकृत्याभावपरीक्षणम्

उक्तेः पूर्वं विजानाति मनोभावं परस्य यः ।
स मेधावी सतां वन्द्यो वर्तते भूविशेषकः[1] ॥१॥

मनोगतं हि यो भावं बुद्ध्या समधिगच्छति ।
न स साधारणः किन्तु वर्तते भुवि देवता ॥२॥

आकृतिं वीक्ष्य यः प्राज्ञः परभावं समूहते ।
प्रीत्या केनापि यत्नेन मन्त्रदः स विधीयताम् ॥३॥

उक्तं वेत्ति नरः कश्चिदनुक्तश्चाप्यतुच्छधीः ।
आकृतौ सति साम्येऽति श्रेण्यां भिन्नस्थितिस्तयोः ॥४॥

सकृदेव नरं दृष्ट्वा भावं मानससंस्थितम् ।
बोद्धुं यदक्षमं चक्षुर्वृथा ज्ञानेन्द्रियेषु तत् ॥५॥

भिन्नवर्णसमायोगं व्यनक्ति स्फटिको यथा ।
तथैव सर्वलोकानां वक्त्रं वक्ति हि मानसम् ॥६॥

भावपूर्णमुखं त्यक्त्वा श्रेष्ठमन्यन्न वस्तुकम् ।
मुखं हि सर्वतः पूर्वं हर्षामर्षौ व्यनक्ति नुः[2] ॥७॥

यदि प्राप्तो भवेत्पुण्याद् विना शब्देन भाववित् ।
तदक्षिसन्निकर्षोऽपि जायते ननु सिद्धिदः ॥८॥

आकूतादिपरिज्ञानमुत्तमं यदि वर्तते ।
एकेन तर्हि बुध्येते रागरोषौ हि चक्षुषा ॥९॥

धूर्ता भद्रतराश्चापि सन्ति ये वसुधातले ।
तद्दृष्टिरेव सर्वत्र तेषां भावस्य सूचिका ॥१०॥

---

१. भूतिलकः । २. नरस्य ।

परिच्छेदः ७२

श्रोतॄणां निर्णयः

चित्ते सुरुचिसम्पन्नो वाक्कलायां विशारदः ।
श्रोतृभावं विदित्वादावनुरूपं वदेद् वचः ॥१॥

भो भोः शब्दार्थवेत्तारः शास्तारः पुण्यमानसाः ।
श्रोतॄणां हृदयं वीक्ष्य तदर्हां ब्रूत भारतीम् ॥२॥

श्रोतॄणां प्रकृतिं वेत्तुं यस्य नैवास्ति पाटवम् ।
वक्तृकलानभिज्ञः स निष्कर्मा चान्यकर्मसु ॥३॥

ज्ञानचर्चा तु कर्तव्या विदुषामेव संसदि ।
मौर्ख्ये च दृष्टिमाधाय वक्तव्यं मूर्खमण्डले ॥४॥

त्यज्यते येन नेतृत्वकामना मान्यसंसदि ।
स गुणेष्वस्ति विख्यातो धन्यो वचनसंयमः ॥५॥

यस्यास्ति नैव सामर्थ्यं साफल्यञ्चापि भाषणे ।
न विभाति बुधाग्रे स धर्मभ्रष्टो नरो यथा ॥६॥

लोकातिशायिपाण्डित्यं विदुषां पूर्णवैभवैः ।
उद्द्योतते सभामध्ये विदुषामेव रागिणाम् ॥७॥

धीमतां ननु सान्निध्ये विदुषो ज्ञानकीर्तनम् ।
जीविते तरुसंघाते भाति नीरनिषेकवत् ॥८॥

व्याख्यानेन यशोलिप्सो श्रुत्वेदं स्ववधार्यताम् ।
विस्मृत्याग्रे न वक्तव्यं व्याख्यानं हतचेतसाम् ॥९॥

विरुद्धानां पुरस्तात्तु भाषणं विद्यते तथा ।
मालिन्यदूषिते देशे यथा पीयूषपातनम् ॥१०॥

परिच्छेदः ७३

सभायां प्रौढता

वाक्कला शिक्षिता येन सुरुच्या च समन्विता ।
स वाग्मी विदुषामग्रे सुब्रवीति च्युतिं विना ॥१॥

सिद्धान्तदृढता यस्य राजते विज्ञसंसदि ।
स प्राज्ञो विदुषां मध्ये समाम्नातो विदाम्वरैः ॥२॥

सन्ति शूरा महेष्वासा बहवो रणकोविदाः ।
विरलाः किन्तु वक्तारः सभायां लब्धकीर्तयः ॥३॥

यदुपात्तं स्वयं ज्ञानं तद्विद्वत्सु प्रकाश्यताम् ।
अनुपात्तमथज्ञानं विज्ञेभ्यः साधु शिक्ष्यताम् ॥४॥

अधीष्वसाधुरीत्या त्वं तर्कशास्त्रमसंशयम् ।
न बिभेति हि तर्कज्ञो भाषितुं लोकसंसदि ॥५॥

कोऽर्थस्तस्य कृपाणेन शक्तिर्यस्य न विद्यते ।
किं वा शास्त्रेण भीतस्य तिष्ठतो विदुषां पुरः ॥६॥

श्रोतॄणां पुरतो ज्ञानं बिभ्यतो न हि राजते ।
रणक्षेत्रे यथा खड्गो क्लीवहस्ते न शोभते ॥७॥

विद्वद्गोष्ठ्यां निजज्ञानं यो हि व्याख्यातुमक्षमः ।
तस्य निस्सारतां याति पाण्डित्यं सर्वतोमुखम् ॥८॥

सन्ति ये ज्ञानिनः किन्तु स्थातुं शास्त्रविदां पुरः ।
न शक्नुवन्ति ते नूनमज्ञेभ्योऽपि घृणावहाः ॥९॥

सभ्यानां पुरो यातुं ये भवन्ति भयान्विताः ।
सिद्धान्तवर्णनाशक्तास्ते श्वसन्तो मृताधिकाः ॥१०॥

परिच्छेदः ७४

देशः

देशेषु स महान् देशो यत्र सन्ति महर्षयः ।
धार्मिका धनिकाश्चापि कृषिर्नित्यं समृद्धिभाक् ॥१॥

स एवास्ति महान् देशो यो द्रव्यैर्लोककर्षकः ।
प्रचुरा च कृषिर्यत्र स्वास्थ्यं पूर्णनिरामयम् ॥२॥

समृद्धं पश्य तं देशं सहते यो बहूनपि ।
उत्साहेन रिपोर्वारान् काले च करदायकः ॥३॥

यस्मिन् देशे न दुर्भिक्षं न वा मारी च दृश्यते ।
समन्ताद् रक्षितो यश्च स याति महनीयताम् ॥४॥

महान् स एव देशो यो न विभक्तो विपक्षिषु ।
देशविद्रोहिणः कृत्या न च स्युर्यत्रमण्डले ॥५॥

न जातः शत्रुयानेन लुप्तश्रीर्यो हि जातुचित् ।
जातोऽप्यथायपूर्णो यः स देशो रत्नसन्निभः ॥६॥

भूमिवारि नदीवारि नभोवारि महीधरः ।
सुदृढो दुर्गवर्गश्च देशस्यावश्यका इमे ॥७॥

समृद्धिरुर्वराभूमिरारोग्यं सुखशालिता ।
रिपुभ्यश्च परित्राणं देशभूषणपञ्चकम् ॥८॥

सहजा जीविकोपाया यस्मिन् सन्ति स वस्तुतः ।
देशोऽस्ति तत्पुरोऽन्ये तु समकक्षा भवन्ति नो ॥९॥

तावन्न राजते देशो युक्तोऽपि बहुभिर्गुणैः ।
यावत् तत्र न सौराज्यं प्रजानां परिपालकम् ॥१०॥

परिच्छेदः ७५

दुर्गः

उपकर्ता यथा दुर्गो निर्बलानां स्वरक्षिणाम् ।
सबलानां तथैवैष नास्ति न्यूनः सहायकृत् ॥१॥
वनदुर्गो गिरेर्दुर्गो मरुदुर्गोऽथ वारिणः ।
दुर्गः प्राकारदुर्गश्च सन्ति दुर्गा अनेकधा ॥२॥
दार्ढ्यमुत्सेधविष्कम्भावजय्यत्वञ्च सर्वतः ।
दुर्गाणां हि विनिर्माणे नूनमावश्यका गुणाः ॥३॥
यो दार्ढ्ये किञ्चिदूनोऽपि शत्रूणां मदभञ्जकः ।
पर्याप्तो यत्र विस्तारो स दुर्गः प्रवरो मतः ॥४॥
दुर्गसैनिकरक्षायाः प्रबन्धो वस्तुसंग्रहः ।
अजय्यत्वञ्च दुर्गस्य सन्ति ह्यावश्यका गुणाः ॥५॥
आवश्यकपदार्थानां यत्र पर्याप्तसंग्रहः ।
रक्षितो यो हि वीरैश्च स दुर्गो दुर्ग उच्यते ॥६॥
चिरानुबन्धावस्कन्दसुरङ्गाभिश्च यं रिपुः ।
विजेतुं नैव शक्नोति स दुर्गो दुर्ग उच्यते ॥७॥
विजयाय कृतोद्योगान् परिवारकसैनिकान् ।
अपि जेतुं क्षमो यश्च सैव दुर्गोऽस्त्यसंशयम् ॥८॥
सैव दुर्गोऽस्ति यच्छक्तेस्तत्रस्था रक्षका भटाः ।
दूरादेव बहिः सीम्नो घातयन्ति स्ववैरिणः ॥९॥
पूर्णसाधनसम्पन्नः सुदुर्गोऽपि निरर्थकः ।
यदि प्रमादिनः सन्ति रक्षकाः स्फूर्तिविच्युताः ॥१०॥

परिच्छेदः ७६

धनोपार्जनम्

तुच्छोऽपि गुरुतां याति विश्रुतिश्चाप्यविश्रुतः ।
धनेन मनुजो ह्येवं शक्तिः क्वान्यत्र दृश्यते ॥१॥

निर्धनानां हि सर्वत्र न्यक्कारः खलु जायते ।
धनिकानाञ्च सर्वत्र प्रतिपत्तिर्विवर्द्धते ॥२॥

अविश्रान्तमहज्ज्योतिरहो वित्तं हि भूतले ।
स्थानं तमोवृतं येन ज्योत्स्नापूर्णं विधीयते ॥३॥

निर्दोषैः पापशून्यैर्यत् साधनैः प्राप्यते वसु ।
ततो वहन्ति स्रोतांसि सुखस्य सुकृतस्य च ॥४॥

यद्धनं दयया रिक्तं प्रेमशून्यञ्च विद्यते ।
तज्जिघृक्षा न कर्तव्या स्पर्शो वा तस्य नो वरः ॥५॥

दण्डद्रव्यं मृतद्रव्यं करस्वं शुल्कजं धनम् ।
युद्धद्रव्यञ्च भूपस्य कोपसंवृद्धिहेतवः ॥६॥

अनुकम्पा हि भूतानां विद्यते प्रेमसंततिः ।
तत्पालनाय धात्र्येषा सम्पत्तिः करुणाभृता ॥७॥

गिरिशृङ्गाद् यथा निर्भीः प्रेक्षते करिणो रणम् ।
तथा कार्यं समारभ्य शङ्कां नाप्नोति वित्तवान् ॥८॥

यदीच्छसि रिपुं जेतुं कर्तव्यस्तर्हि संग्रहः ।
द्रविणस्य यतोऽमोघं शस्त्रमेतज्जयैषिणाम् ॥९॥

येन स्वपौरुषात् पुंसा सञ्चितं हि महाधनम् ।
करमध्ये स्थितौ तस्य धर्मकामावुभावपि ॥१०॥

परिच्छेदः ७७

सेना

शिक्षितं बलसम्पन्नं संकटे चास्तभीतिकम् ।
नृपस्य वस्तुजातेषु श्रेष्ठमस्ति सुसैन्यकम् ॥१॥

अपर्याप्ताभिघातेऽपि नैराश्ये च भयङ्करे ।
स्थितिरक्षां हि कुर्वन्ति शूरा युद्धविशारदाः ॥२॥

अहितं नास्ति नः किञ्चिद् वरं गर्जन्तु तेऽब्धिवत् ।
अलमाखुसहस्रेभ्यः फूत्कारः कृष्णभोगिनः ॥३॥

च्यवते या न कर्तव्यान्नानुभूतपराजया ।
प्रदर्शितस्वशौर्या च सैव सेना वरूथिनी ॥४॥

यमेन पूर्णक्रुद्धेन समं यस्याः सुसाहसम् ।
योद्धुं विशोभते तस्याः सेनाख्या वीरकाङ्क्षिता ॥५॥

प्रतिष्ठावीरते ज्ञानं युद्धानां पूर्ववर्तिनाम् ।
बुद्धिमत्वञ्च सेनाया गुणाः सन्नाहसन्निभाः[१] ॥६॥

आक्रम्यापि रिपुर्नूनं जितः स्यादिति निश्चयात् ।
गवेषयन्ति निर्भीकाः स्वशत्रुं सुभटोत्तमाः ॥७॥

न चेत् सज्जा नवाशक्तिः प्रचण्डाक्रमणाय च ।
विभवौजःप्रतापाश्च सेनायास्त्रुटिपूरकाः ॥८॥

या न्यूना नास्ति संख्यायां नार्थाभावेन पीडिता ।
तस्या अस्ति जयो नूनं सेनाया इति निश्चयः ॥९॥

सेनापतेरसद्भावे न सेना कापि जायते ।
सन्तु यद्यपि भूयांसः सैनिका रणकोविदाः ॥१०॥

---

१. कवचतुल्याः ।

परिच्छेदः ७९

वीरयोद्धुरात्मगौरवम्

रे रे सपत्नसंघात मा तिष्ठ स्वामिनः पुरः ।
स योद्धुं यैः पुराहूतः साम्प्रतं ते चिताश्मसु ॥१॥

कुन्ताघातो गजे मोघोऽप्यस्ति गौरवदायकः ।
शशे किन्तु शराघातो सफलोऽपि न मानदः ॥२॥

नूनं तदेव वीरत्वं येन ह्याक्रम्यते रिपुः ।
शरणागतवात्सल्यं रूपञ्चास्त्यस्य सुन्दरम् ॥३॥

स्वकुन्तं करिदेहान्तः प्रवेश्यान्यं गवेषयन् ।
निष्कासयँश्च गात्रस्थं स्मयते स भटाग्रणीः ॥४॥

रिपुप्रासप्रहाराच्चेज्जातं नेत्रनिमीलनम् ।
तर्हि ख्यातस्य वीरस्य का लज्जा स्यादतः परा ॥५॥

न पश्यन्ति यदा शूराः स्वाङ्गमालीढशोभितम् ।
तदा दिनानि मन्यन्ते व्यर्थानि क्षीणचेतसः ॥६॥

प्राणेषु त्यक्तमोहः सन् कीर्तिं लोकान्तसंश्रिताम् ।
ईप्सते यस्तदंघ्रिस्थो निगडोऽपि सुशोभते ॥७॥

यस्य नास्ति भयं मृत्योर्युद्धे स सुभटोत्तमः ।
आतङ्कादपि सेनान्यो भटनीतिं न मुञ्चति ॥८॥

अभीष्टकार्यसिद्ध्यर्थं वीरा उद्योगशालिनः ।
यदि प्राणैर्वियुक्ताः स्युस्तर्हि के दोषवादिनः ॥९॥

यं समीक्ष्य भवेत् स्वामी वाष्पपूर्णाकुलेक्षणः ।
भिक्षया चाटुकारैश्च तं मृत्युं प्रार्जयेद् भटः ॥१०॥

परिच्छेदः ७९

मित्रता

किमस्ति कठिनं लोके शिष्टैः श्लाघ्या सुमित्रता ।
तत्समो दृढसन्नाहो यतो नास्ति महीतले ॥१॥

सतां भवति मैत्री तु ज्योत्स्नाचन्द्रकलासमा ।
असताश्च पुनः सैव तमिस्रेन्दुकलानिभा ॥२॥

मैत्री भवति गुण्यानां श्रुतिस्वाध्यायसन्निभा ।
उत्तरोत्तरवृद्धा हि द्योतन्ते यत्र सद्गुणाः ॥३॥

नैवामोदविनोदार्थं मित्रताद्रियते बुधैः ।
अपि भर्त्सनया मित्रं मार्गस्थं क्रियते तया ॥४॥

सदैव सहगामित्वं भूयोभूयश्च दर्शनम् ।
सख्यस्य वर्धने नैव कारणं किन्तु मानसम् ॥५॥

विनोदकारिणी गोष्ठी नैवास्ते मित्रतागृहम् ।
मैत्री प्रेमामृतोद्भूता हृदयाह्लादकारिणी ॥६॥

कापथाद्बहिराकृष्य नियुङ्क्ते न्यायकर्मणि ।
उपतिष्ठते च दुःखेषु यत् तन्मित्रं प्रगण्यते ॥७॥

गृहीतोऽरं यथा पाणी वायुविच्युतमंशुकम् ।
विपन्नमित्रकार्याणि सुसखः कुरुते तथा ॥८॥

आस्थानं कुत्र सख्यस्य यत्रास्ते हृदयैकता ।
उभे च यत्र चेष्टेते मिलित्वा श्रेयसे मिथः ॥९॥

उपकारप्रसंख्यानं यत्रास्ति प्रीतिधारिणाम् ।
दारिद्र्यं तत्र गर्वोक्त्या गाढस्नेहस्य घोषणा ॥१०॥

परिच्छेदः ९०

सख्यार्थं योग्यतापरीक्षा

अपरीक्ष्यैव मैत्री चेत् कः प्रमादो ह्यतः परः ।
भद्राः प्रीतिं विधायादौ न तां मुञ्चन्ति कर्हिचित् ॥१॥

अज्ञातकुलशीलानां मैत्री संकटसंहतिः ।
सति प्राणक्षये यस्याः शान्तिर्भवति पूर्णतः ॥२॥

कथं शीलं कुलं किं कः सम्बन्धः का च योग्यता ।
इति सर्वं विचार्यैव कर्तव्यो मित्रसंग्रहः ॥३॥

प्रसूतिर्यस्य सद्वंशे कुकीर्तेश्च बिभेति यः ।
मूल्यं दत्त्वापि तेनामा[1] कर्तव्या खलु मित्रता ॥४॥

अन्विष्यापि समं तेन मैत्री कार्या विपश्चिता ।
सुमार्गाच्चलितं मित्रं यो भर्त्सयति नीतिवित् ॥५॥

विपत्स्वपि महानेकः सुगुणः सर्वसम्मतः ।
यदापन्मानदण्डेन ज्ञायते मित्रसंस्थितिः ॥६॥

अस्मिन्नेवास्ति कल्याणं नराणां सौख्यवर्द्धनम् ।
यन्मूर्खस्य सदा हेया मैत्री दुर्गतिकारिणी ॥७॥

औदासीन्यनिरुत्साहभृता हेया विचारकाः[2] ।
बन्धुता सापि हातव्या विपत्तौ या पराङ्मुखी ॥८॥

सम्पत्तौ सह संवृद्धा विपत्तौ ये च मायिनः ।
मैत्रीस्मृतिर्हि तेषान्तु मृत्युकालेऽपि दाहदा ॥९॥

विशुद्धहृदयैरार्यैः सह मैत्रीं विधेहि वै ।
उपयाचितदानेन[3] मुञ्चस्वानार्यमित्रताम् ॥१०॥

---

१. सह । २. कुत्सितविचाराः । ३. देवोपहारदानेन ।

परिच्छेदः ८१

घनिष्टमित्रता

घनिष्टमित्रता सैव तयोरस्त्यनुरूपयोः ।
यत्रात्मा प्रीतिपात्राय यथाकामं समर्प्यते ॥१॥

सत्यरूपात् तयोर्मैत्री वर्तते विज्ञसम्मता ।
स्वाश्रितौ यत्र पक्षौ द्वौ भवतो नापि बाधकौ ॥२॥

यदि नास्ति वयस्यस्य स्वातन्त्र्यं मित्रवस्तुनि ।
सौहार्देनापि किं तेन क्रियाविकलरूपिणा ॥३॥

प्रगाढमित्रयोरेकः किमप्यनुमतिं विना ।
कुरुते चेद् द्वितीयोऽपि सख्यमाध्याय हृष्यति ॥४॥

मित्रकृत्येन केनापि यदि ते दूयते मनः ।
तस्यार्थः सख्युरज्ञानं किं वा वामेकतानता ॥५॥[1]

अभिन्नहृदयं मित्रं सुसखो नैव मुञ्चति ।
वरमस्तु विनाशस्य हेतुरेव तदाश्रयः ॥६॥

येन साकं चिरस्नेहो यश्चासीत् सुप्रियो हृदि ।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि स प्रियो न घृणास्पदम् ॥७॥

मित्रं नैव सुमित्रस्य सहते दोषकीर्तनम् ।
निन्दको दण्ड्यते यस्मिन् तदहस्तस्य तोषदम् ॥८॥

अन्तर्हिमालयाद्यस्य प्रेमगङ्गा परान् प्रति ।
वहत्यखण्डधारायां भूप्रियः सोऽपि जायते ॥९॥

यस्य स्नेहो न शैथिल्यं याति मित्रे चिरन्तने ।
तस्मै मानवरत्नाय स्निह्यन्ति रिपवोऽप्यलम् ॥१०॥

---

१. युवयोः ।

परिच्छेदः ८२

विघातिका मैत्री

विघातिनी तयोर्मैत्री यौ प्रदर्शयतो बहिः ।
सख्यं किन्तु ययोः किञ्चिद् वर्तते नैव मानसे ॥१॥

पतन्ति पदयोः स्वार्थात् स्वार्थभावाच्च दूरगाः ।
ये धूर्तास्ते हि हातव्यास्तत्सख्येनापि को गुणः ॥२॥

अस्मात् सख्युरियाँल्लाभः स्यादित्येवं विचारयन् ।
नरो भवति चौराणां वेश्यानाञ्च कुपंक्तिषु ॥३॥

पलायते यथा युद्धात् पातयित्वाश्ववारकम् ।
कुत्स्यसप्तिस्तथा[1] मायी का सिद्धिस्तस्य सख्यतः ॥४॥

विश्वस्तं सुहृदं काले मुञ्चता सह मायिना ।
सख्यस्थापनमश्रेयः श्रेयान् ननु विपर्ययः ॥५॥

प्राज्ञैः समं विरोधोऽपि वरं मूढस्य संगतेः ।
सादृश्याय यतो नूनं वर्द्धन्ते गुणराशयः ॥६॥

स्वार्थिनां चाटुकर्तॄणां सौहार्दाद् वैरिणामहो ।
असह्यापि घृणा साध्वी शतगुण्या मता बुधैः ॥७॥

तव पाणीकृते कार्ये योऽस्ति बाधाविधायकः ।
किञ्चितं प्रति मा ब्रूहि मैत्रीं मुञ्च शनैः शनैः ॥८॥

अन्यदेव खलु ब्रूते कुरुते चान्यदेव यः ।
स्वप्नेऽप्यशुभरूपास्ति तेनामा सख्यकल्पना ॥९॥

एकान्ते स्तौति यो नित्यं बहिर्निन्दति दुष्टधीः ।
वृत्तिरेवंविधा यस्य स ह्युपेक्ष्यो विमर्शिना ॥१०॥

---

१. दुष्टाश्व. ।

परिच्छेदः ८३

कपटमैत्री

मैत्रीप्रदर्शनं शत्रोः केवलं स्थाणुयोजना[1] ।
समये त्वापि[2] यत्रासौ ताडयेद्धातुसन्निभम् ॥१॥

हृदये यस्य दुर्भावो बाह्ये यश्च सखीयते ।
कामिन्या इव तच्चित्तं क्षणेनैति विरागताम् ॥२॥

वरमस्तु महाज्ञानं विशुद्धिर्वापि मानवे ।
शत्रोश्चित्ते तथापीह घृणात्यागोऽस्त्यसंभवः ॥३॥

बहिर्हृष्यति यो मायी द्वेष्टि चान्तर्दुराशयः ।
भीतो भव ततो धूर्ताद् यदि प्राणानपेक्षसे ॥४॥

त्वयामा हृदयं येषां विद्यते नैव सर्वथा ।
विश्वासस्तेषु नो कार्यो वदत्स्वपि प्रियं वचः ॥५॥

अहो नूनं क्षणेनैव परिपन्थी प्रकाशते ।
सखेव मधुरालापं कुर्वन्नपि मुहुर्मुहुः ॥६॥

प्रह्वोऽपि च रिपुर्नैव विश्वास्यो दीर्घदर्शिना ।
धनुषो हि विनम्रत्वमनिष्टस्यैव सूचकम् ॥७॥

कृताञ्जली रुदँश्चापि प्रत्येतव्यो न वैरकृत् ।
शस्त्रं संभाव्यते तस्य निगूढं करमध्यके ॥८॥

बाह्ये नौति विविक्ते च घृणार्थं हसति ध्रुवम् ।
बहिः संस्तुत्य तं काले मर्दयेन्मित्रतां गतम् ॥९॥

संधित्सुः[3] खल्वरातिश्चेदशक्तश्च स्वयं बले ।
सन्धिस्तेन समं कार्यः कृत्वा च भव दूरगः ॥१०॥

---

१. स्वर्णकारलोहकीलकम् । २. त्वामपि । ३. संधिं कर्तुमिच्छुकः ।

परिच्छेदः ८४

मूर्खता

मौर्ख्यं किमिति जिज्ञासो शृणु तर्हि वदामि तत् ।
लाभहेतोः परित्यागो ग्रहणं हानिकारिणाम् ॥१॥

अयोग्येऽथ विनिन्द्ये च प्रवृत्तिर्ननु कर्मणि ।
प्रथमा मूढता ज्ञेया तस्याः सर्वासु कोटिषु ॥२॥

मूर्खो विस्मृत्य कर्तव्यमसभ्यं भाषते वचः ।
धर्मो न रोचते तस्मै ह्रीदयाभ्यां स वर्ज्यते ॥३॥

शिक्षितोऽपि सुदक्षोऽपि गुरुत्वे सुस्थितोऽपि सन् ।
लम्पटो योऽक्ष जातानां को मूढस्तादृशो भुवि ॥४॥

अहो स्वयं समाख्याति पूर्वमेव स्वजीवने ।
श्वभ्रस्य विवरे तुच्छे स्वस्थानं खलु मूढधीः ॥५॥

उच्चकार्यं समादत्ते यो मूढो निजहस्तयोः ।
स परं नैव तन्नाशी बन्दी भवति च स्वयम् ॥६॥

मूर्खोपार्जितवित्तेन भवन्ति सुखिनः परे ।
आत्मीयाः किन्तु दुःखार्ताः त्रस्यन्ति क्षुधयातुराः ॥७॥

बहुमूल्यं यदा वस्तु दैवादज्ञेन लभ्यते ।
उन्मत्तसदृशो भूत्वा तदा सोऽयं कुचेष्टते ॥८॥

मैत्री भवति मूर्खाणां सुप्रिया ननु सर्वदा ।
यतो विघटने तस्याः सन्तापो नैव जायते ॥९॥

अविदग्धस्तथा नैव शोभते बुधमण्डले ।
दुग्धोज्ज्वले हि पर्यङ्के यथैव मलिनं पदम् ॥१०॥

परिच्छेदः ८५

अहङ्कारपूर्णा मूढता

दारिद्र्येष्वतिदारिद्र्यं बुद्धेरेव विहीनता ।
निर्धनित्वं क्षयं याति यतो योग्यप्रयत्नतः ॥१॥

स्वेच्छया यदि मूढात्मा दत्ते किञ्चिदुपायनम् ।
सौभाग्यं तत्र पात्रस्य हेतुरन्यो न कश्चन ॥२॥

मूर्खः स्वदोषसंघातैः स्वयं यादृश् विपद्यते ।
तादृग् विपद्युतो नैव क्रियते क्रूरवैरिभिः ॥३॥

सहस्रबुद्धिमात्मानं वेत्ति यो गर्विताशयः ।
नूनं स एव मूढात्मा बोद्धव्यो विदुषां वरैः ॥४॥

अज्ञातविषयज्ञानं दर्शयित्वा हि मन्दधीः ।
विज्ञातविषयज्ञाने संशीतिं जनयत्यसौ ॥५॥

मूढानां हि निजाङ्गेषु को गुणः पटधारणात् ।
अस्त्यसंवृतदोषाणां मानसे यदि संस्थितिः ॥६॥

भेदं कमपि यः क्षुद्रः स्वान्तिकेन न गोपितम् ।
कर्तुं शक्नोति तन्मूर्ध्नि वर्तते विपदां चयः ॥७॥

नो शृणोति न चावैति शृणोति यो दुराग्रही ।
स हि मूढः स्वबन्धूनां दुःखदोऽस्ति निरन्तरम् ॥८॥

प्रबोधनाय मूर्खस्य यतन्ते येऽपि धार्मिकाः ।
शुद्धं नावैति मूढोऽयं मार्गं ज्ञानविनिश्चितम् ॥९॥

अपि लोकमतं वस्तु यो मूर्खो नैव मन्यते ।
स मूर्खो [illegible] ज्ञायते गर्वमानवैः ॥१०॥

परिच्छेदः ८६

उद्धतता

औद्धत्येन परेषान्तु परिहासं करोति यः ।
अनेन दुर्गुणेनैव सोऽस्ति लोके घृणावहः ॥१॥

पार्श्ववासी यदि ज्ञात्वा कदाचित् कलहेच्छया ।
त्वां बाधते तथापीदं वरं त्रासादवैरिता ॥२॥

कलहस्य चिराभ्यासो महाव्याधिरहो खले ।
लभन्ते तेन निर्मुक्ताः प्रतिष्ठामन्तवर्जिताम् ॥३॥

भण्डवृत्तिं महागर्ह्यां मुञ्चतः खलु दूरतः ।
हृदये परमाह्लादो जायते वै निसर्गतः ॥४॥

विद्वेषभावनां चित्ताद् योहि दूराद् व्यपोहति ।
सर्वप्रियः स लोके स्यात् प्रकृत्या चारुतां गतः ॥५॥

हृदयं ह्लादते यस्य विद्वेषे प्रतिवासिनः ।
तस्याधःपतनं शीघ्रममन्दञ्च भविष्यति ॥६॥

मात्सर्याद् यश्च भूपालो सर्वैः साकं विरुध्यते ।
कलहे तस्य लिप्तस्य राज्यवृद्धिः कथं भवेत् ॥७॥

विग्रहस्य विधेस्त्यागाद् वैभवं वर्द्धते सदा ।
तस्य संवर्द्धनात् किन्तु व्यृद्धिरेवाभिवर्द्धते[1] ॥८॥

सर्वाविशं जहात्येव नरः पुण्यस्य वैभवात् ।
अथ पापात् स एवाहो विद्वेष्टी प्रतिवेशिनम् ॥९॥

विद्वेषस्य फलं लोके विद्वेषो ह्यस्ति नापरः ।
भवतः शिष्टवृत्तौ च शान्तिरेवं समन्वयः ॥१०॥

---

१. ऋद्धेरभावः ।

परिच्छेदः ८७

शत्रुपरीक्षा

सबलेनारिणा साकं न योद्धव्यं मनीषिणा ।
अविश्रम्य क्षणं किन्तु संयुध्याशक्तवैरिणा ॥१॥

यस्य निर्दयिनः केऽपि नैव सन्ति सहायकाः ।
अशक्तश्च स्वयं सोऽयमाक्रामति कथं रिपुम् ॥२॥

प्रतिभा धैर्यमौदार्यं यत्र नास्ति गुणत्रयी ।
प्रत्यन्तराज्यविद्वेषी सुजय्यः स महीपतिः ॥३॥

जिह्वा यस्य वशे नास्ति कटुर्यश्च निसर्गतः ।
न्यक्क्रियते स भूपालो सर्वैः सर्वत्र भूतले ॥४॥

अदक्षो योऽस्ति कर्तव्ये स्वमानानभिरक्षकः ।
राजनीते रसंवेदी स नृपो रिपुमोददः ॥५॥

किङ्करो यस्तु लिप्सानां चण्डो वा बुद्धिवर्जितः ।
सपत्नास्तस्य भूपस्य वैरार्थं स्वागतोद्यताः ॥६॥

कार्यं प्रारभ्य पश्चाद् यो वैफल्याय विचेष्टते ।
मूल्यं दत्त्वापि तद्वैरं गृहणीयाद् हितवान्नरः ॥७॥

नैकोऽपि सद्गुणो यत्र दोषाणां किन्तु राशयः ।
तस्य मित्रं न कोऽपि स्यादमित्रानन्दवर्षिणः ॥८॥

बालिशैः कातरैः साकं यदि युध्यन्ति शत्रवः ।
तदा भवति तेषां तु प्रवृद्धो हर्षसागरः ॥९॥

पार्श्वस्थ राजभिर्मूढैः सार्धं यो नैव युध्यति ।
जयाय यत्नहीनश्च स राजा नो प्रतिष्ठितः ॥१०॥

परिच्छेदः ९८

शत्रून्प्रति व्यवहारः

नन्वेका राक्षसी लोके शत्रुतानामधारिणी ।
विनोदेऽपि न सा कार्या स्वयमेव विपश्चिता ॥१॥
वरं करोतु हे भद्र वैरं वै शस्त्रपाणिना ।
परं कुर्यान्न ते नामा वाणी यस्यासिसन्निभा ॥२॥
उन्मत्तः स हि भूपालो यस्यैको न सहायकृत् ।
परमाह्वयते योद्धुमनेकानपि वैरिणः ॥३॥
अमित्रमपि मित्रं यो कर्तुं शक्तोऽस्ति पाटवात् ।
सुस्थिरा तस्य राज्यश्रीर्जयश्रीश्च करे ध्रुवा ॥४॥
असहायः स्वयश्चैको विरोधे द्वौ च वैरिणौ ।
एकेन तर्हि संदध्यादपरं युधि योजयेत् ॥५॥
संकल्पितोऽपि शत्रुर्वा सखा चैव परागमे ।
प्रतिवेशी न कर्तव्यो माध्यस्थ्ये हितवृत्तिता ॥६॥
अजानतां पुरो नैव भाषणीया विपत्तयः ।
त्रुटयोऽपि न वक्तव्या रिपूणां पुरतस्तथा ॥७॥
युक्तिसाधनसम्पन्नः सुव्यवस्थः सुरक्षितः ।
अहो चेदसि शत्रूणां द्रुतं गर्वो विनङ्क्ष्यति ॥८॥
छेद्यः कण्टकिनो वृक्षा जाता एव मनीषिणा ।
छेत्तुरेवान्यथा पाणी कुर्वन्ति क्षतविक्षतौ ॥९॥
अवज्ञातू रिपोर्नैव शक्ता ये मानभञ्जने ।
ते नूनमधमा लोके न च स्युश्चिरजीविनः ॥१०॥

परिच्छेदः ८१

गृहभेदी

कुञ्जः पुष्करवर्षी च नूनं चेद् रोगवर्द्धकौ ।
अप्रियौ भवतस्तद्वद् वन्धुरप्यहितः परः ॥१॥

तस्माद् द्विषो न भेतव्यं योऽस्ति नग्नासिसन्निभः ।
भेतव्यं हि ततोऽमित्रादैति[1] यो मित्रकैतवात् ॥२॥

अप्रमत्तो निजं रक्षेदन्तर्द्विष्टाद् रिपोः सुधीः ।
कस्यर्त्यवसरे शत्रुरन्यथा चक्रिसूत्रवत् ॥३॥

अहितो यदि ते कश्चिन् मित्रत्वं यत्र न्यस्यते ।
स भेदमुपसंधाय विधास्यति विपद्गृहम् ॥४॥

स्वजना यदि संक्रुद्धाः स्वयं विद्रोहभाजिनः ।
सन्निपाते विपत्तीनां जीवनं तर्हि यास्यति ॥५॥

आस्थाने यस्य भूपस्य विद्यते कपटस्थितिः ।
एकदा सोऽपि तद्दोषात् तस्या लक्ष्यं भविष्यति ॥६॥

ययोर्भेदस्तयोरैक्यं नैव दृष्टं महीतले ।
पिधानेनावृतं पात्रं भिन्नमेव स्वरूपतः ॥७॥

भेदबुद्धिर्गृहे येषां भूमिसाद्वै भवन्ति ते ।
घर्षणीयंत्रसंभिन्नलोहस्य कणका यथा ॥८॥

पारस्परिकसंघर्षः स्वल्पोऽपि तिलसन्निभः ।
यत्रास्ति तत्र सर्वस्वनाशो नृत्यति मस्तके ॥९॥

विद्विष्टेन समं भूते प्रतिपत्तिं विनैव यः ।
उटजे फणिना साकं नूनं वासं करोति सः ॥१०॥

---

१. आगच्छति ।

परिच्छेदः १०

महतामवज्ञात्यागः

यो वाञ्छति निजं श्रेयः स साधोरपमानतः ।
आत्मानं सततं रक्षेन् महायत्नेन शुद्धधीः ॥१॥

यः करिष्यति मूढात्मा न्यक्कारं हि महात्मनाम् ।
पतन्ति मूर्ध्नि तच्छक्त्या विपदो वीतसंख्यकाः ॥२॥

अनादृत्य हितान् गच्छ सर्वनाशं यदीच्छसि ।
विरोधी भव तेषाञ्च यच्छक्तिः सर्वनाशिनी ॥३॥

सबलं शक्तिसम्पन्नं योऽवजानाति रोषतः ।
स स्वजीवनघाताय मृत्युमाह्वयते कुधीः ॥४॥

बलिनां भूपतीनाञ्च क्रोधं संवर्धयन्नरः ।
पृथिव्यां क्वापि गत्वापि सुखवान् नैव जायते ॥५॥

दहनादपि संरक्षा कदाचित् संभवत्यहो ।
अरक्ष्याः सर्वथा किन्तु मन्ये साध्ववहेलिनः ॥६॥

आत्मशक्तौ महाशूराः क्रुद्धा यदि महर्षयः ।
कुतो हि जीवनानन्दः का सिद्धिश्च समृद्धिषु ॥७॥

विशालं दृढमूलञ्च राज्यं यस्य स भूमिपः ।
उच्छिद्यते यतेः क्रोधाद् ऋषयो ह्यद्रिसन्निभाः ॥८॥

ऋषयो व्रतसंशुद्धा यदि स्युर्वक्रदृष्टयः ।
आस्तामन्यत् स सक्रोऽपि स्वपदात् प्रच्युतो भवेत् ॥९॥

आत्मशक्तेः परा देवाः क्रुद्धा यदि महर्षयः ।
नरस्य कुत्र रक्षास्ति श्रित्वापि बलिनो जनान् ॥१०॥

परिच्छेदः ९१

स्त्रीदासता

नासो महत्त्वमाप्नोति यो नारी पादपूजकः ।
आर्यस्तु कुरुते नैव कार्यमीदृग्विधं मुधा ॥१॥

अनङ्गरङ्गकेलौ यः प्रसक्तो विषयातुरः ।
गर्हितः स समृद्धोऽपि स्वयमेव विलज्जते ॥२॥

क्लीव एव नरः सोऽयं स्त्रियो यो हि वशंवदः ।
भद्रेषु लज्जितो भूत्वा नैवोद्ग्रीवः प्रयाति सः ॥३॥

अहो तस्मिन् महाखेदः स्त्रियो यो हि विकम्पते ।
अभव्यः स च निर्भाग्यः संभाव्या नैव तद्गुणाः ॥४॥

स्त्रियो विभ्रमबाणाया यो बिभेति हि कामुकः ।
सद्गुरूणां स सेवायै भजते नापि साहसम् ॥५॥

प्रियाया मृदुबाहुभ्यां ये बिभ्यति हि कामुकाः ।
लब्धवर्णा[1] न ते सन्ति भूत्वापि सुरसन्निभाः ॥६॥

प्रभुत्वं चोलराज्यस्य येन स्वस्मिन्नुपासितम् ।
कन्यायां ह्रीविशिष्टायां ततोऽस्त्यधिकगौरवम् ॥७॥

एषां सर्वत्रकान्तायाः प्रमाणं वाक्यमेव ते ।
मित्राणामिष्टसिद्ध्यर्थं न शक्ता वा सुकर्मणे ॥८॥

नो लभन्ते धनं धर्मं कामिनीराज्यशासिताः ।
प्रेमामृतरसस्वादे नापि ते भाग्यशालिनः ९॥

उच्चकार्येषु संलग्नाः सौभाग्येनाभिवर्द्धिताः ।
ते दुर्बुद्धिं न कुर्वन्ति विषयासक्तिनामिकाम् ॥१०॥

---

१. प्राप्तकीर्तयः ।

परिच्छेदः १२

वेश्या

धनाय नानुरागाय नरेभ्यः स्पृहयन्ति याः ।
तासां मृषाप्रियालापाः केवलं दुःखहेतवः ॥१॥

वदन्ति मधुरा वाचः परं ध्यानं धनागमे ।
पण्यस्त्रीणां मनोभावं ज्ञात्वैवं भव दूरगः ॥२॥

कपटप्रणयं धूर्ता दर्शयन्ती मुहुर्मुहुः ।
विलासिनी महावित्तमालिङ्गत्युरसा विटम् ॥

परं तस्य समाश्लेषस्तथा तस्या वभाति सः ।
कुविष्टिवैं यथाऽज्ञातं स्पृशेत् संतमसे शवम् ॥३॥ (युग्मम्)

विशुद्धकार्यसंलग्नाः सद्व्रताः पुरुषोत्तमाः ।
कलङ्कितं न कुर्वन्ति निजाङ्गं वारयोषिता ॥४॥

येषामगाधपाण्डित्यं बुद्धिश्चापि सुनिर्मला ।
रूपाजीवाङ्गसंस्पर्शान् मलिना न भवन्ति ते ॥५॥

न गृह्णन्ति करं तस्या जनाः स्वहितकारिणः ।
विक्रीणाति निजं रूपं स्वैरिणी यातिचञ्चला ॥६॥

अन्वेषयन्ति तां भुक्तामज्ञा एव पृथग् जनाः ।
देहेन स्वजते किन्तु रमतेऽन्यत्र तन्मनः ॥७॥

येषां विमर्शशून्याधीर्मन्यन्ते ते हि लम्पटाः ।
स्वर्वध्वा इव वेश्यायाः परिष्वङ्गं सुधामयम् ॥८॥

गणिका कृतशृङ्गारा नूनं निरयसन्निभा ।
तत्प्रणालश्च तद्बाहुर्यत्र मज्जन्ति कामिनः ॥९॥

दुरोदरं सुरापानं बहुसक्ता नितम्बिनी ।
भाग्यं येषां विपर्यस्तं तेषामानन्दहेतवः ॥१०॥

परिच्छेदः १३

सुरापानत्यागः

मद्यपाने रतिर्यस्य नास्ति तस्माद् रिपोर्भयम् ।
अर्जितं गौरवं तस्य तत एव विनश्यति ॥१॥

सुरापानं न कर्तव्यं केनापि हितमिच्छता ।
पिपासा यदि केषाञ्चित् कर्तव्यं चेदनार्यता ॥२॥

प्रमत्तवदनं वीक्ष्य तन्मातैव जुगुप्सते ।
का कथा तर्हि भद्राणां दृष्ट्वा तस्य मुखाकृतिम् ॥३॥

सुरापानकदभ्यासो यस्य पुंसः कुसंगतः ।
पराङ्मुखी ततो याति सुलज्जा मत्तकाशिनी[1] ॥४॥

अतिलोकमिदं मौर्ख्यं सौभाग्यध्वंसकारणम् ।
मूल्यं दत्त्वा यदादत्ते संमोहस्मृतिशून्यते ॥५॥

विषं पिबन्ति ते नित्यं मदिरापरनामकम् ।
महानिद्राभिभूतास्ते सन्त्येव मृतसन्निभाः ॥६॥

सुगूढापि सुरापीता जनयत्येव विभ्रमान् ।
तेभ्योऽधिगम्य शौण्डत्वं ग्लायन्ति पार्श्ववर्तिनः ॥७॥

हालापलापं मा कुर्या मद्यपानरतोऽपि सन् ।
एवं कृते यतोऽलीकपापमन्यच्च योज्यते ॥८॥

प्रमत्तस्य हिताख्यानं केवलं कालयापनम् ।
उल्कालोको[2] यथा मोघो जलमग्नगवेषणे ॥९॥

मत्तस्य कुगतिं शौण्डः संपश्यति मदात्यये ।
जातां तामेव स्वस्यापि कथं नानुमिनोति हा ॥१०॥

---

१. सुन्दरी । मसालप्रकाशः ।

परिच्छेदः १४

द्यूतम्

जये सत्यपि मा दीव्येद् द्यूतं बुद्धिविभूषितः ।
यतो जयोऽपि नाशाय मत्स्यार्थं वडिशो यथा ॥१॥

शतं यत्र पराजित्य जयत्येकन्तु जातुचित् ।
स्यात्समृद्धः कथं तत्र द्यूतकारो दुरोदरे ॥२॥

प्रायो दीव्यति पाशैस्तु यः संस्थाप्य ग्लहे पणम् ।
अज्ञातजनहस्तेषु वैभवं तस्य गच्छति ॥३॥

द्यूतं यथा तथा नान्यः करोति मनुजं खलम् ।
कुकीर्तिर्जायते यस्मात् प्रेर्यते चाशुभे मनः ॥४॥

सन्त्यनेके पटुम्मन्या मत्ताः पाशककर्मणि ।
परमेको न तत्रास्ति यो नैवानुशयं गतः ॥५॥

दारिद्र्येणान्धतां नीतो द्यूतव्यसनकैतवात् ।
अनुबोभूय दुःखानि म्रियते क्षुधयातुरः ॥६॥

यस्य कालो लयं याति प्रायशो द्यूतसद्मनि ।
पैतृकैर्विभवैः साकं कीर्तिस्तस्य विलुप्यते ॥७॥

द्यूतान् नश्यन्ति वित्तानि प्रामाण्यञ्च विलीयते ।
कठोरं जायते चित्तं द्यूतं दुःखानुबन्धनम् ॥८॥

द्यूतासक्तं विमुञ्चन्ति कीर्तिवैदुष्यसम्पदः ।
नेदमेव व्यथायुक्तो भिक्षतेऽन्नं पटञ्च सः ॥९॥

पराजयादहो द्यूते रतिर्नूनं विवर्द्धते ।
यावज्जीवं दहेत् तृष्णा दुःखार्तञ्च पराजितम् ॥१०॥

परिच्छेदः १५

औषधम्

वातपित्तकफाः काये गुणाः प्रोक्ता महर्षिभिः ।
न्यूनाधिका यदा सन्ति तदा ते रोगकारकाः ॥१॥
भुक्तान्ने जीर्णतां याते यदि भुञ्जीत मानवः ।
आवश्यकं कथं तस्य भवेद् भैषज्यसेवनम् ॥२॥
शान्त्या सदैव भोक्तव्यं भुक्त्वा च परिपाचयेत् ।
पाकान्ते च पुनर्भुक्तिः प्रक्रमश्चिरजीविनः ॥३॥
भुक्तं यावन्न जीर्णं चेत् तावद् विरम भोजनात् ।
परिपाके पुनर्जाते भोक्तव्यं सात्म्यमात्मनः ॥४॥
पथ्यान् रुचिकरान् वृष्यान् यो भुङ्क्ते मोदसंभृतः ।
दुष्टा देहव्यथा तस्य कदाचिन्नैव जायते ॥५॥
यथा मृगयते स्वास्थ्यं रिक्तोदरसुभोजिनम् ।
तथा मार्गयते व्याधिर्मात्राधिक्येन खादकम् ॥६॥
जठराग्निमनादृत्य यो भुङ्क्ते रसलोलुपः ।
असंख्यैर्विविधै रोगैर्ग्रस्यते स सदा कुधीः ॥७॥
रोगो विचार्यतां पूर्वमुत्पत्तिं तदनन्तरम् ।
निदानञ्च समीक्ष्यैव पश्चात् कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥८॥
को रोगः कीदृशो रोगी कः कालो वर्ततेऽधुना ।
इति सर्वं समीक्ष्यैव विदध्याद् भेषजं भिषक् ॥९॥
भिषग् भैषज्यविक्रेता भेषजं रोगपीडितः ।
चत्वारः सन्ति साफल्ये चिकित्सायाः सुहेतवः ॥१०॥

परिच्छेदः १६

कुलीनता

निसर्गादभिजातानां भवतो द्वौ हि सद्गुणौ ।
हृद्या लज्जास्ति तत्रैको द्वितीयश्च यथार्थता ॥१॥

सदाचारात् सुलज्जायाः सत्यस्नेहाच्च सर्वदा ।
नैवस्खलन्ति सद्वंश्याः ख्यातमेवेति भूतले ॥२॥

कुलीनो हि भवत्येव चतुर्भिः सद्गुणैर्युतः ।
हृष्टास्यो मधुरालापी गर्वशून्य उदारधीः ॥३॥

कोटिसंख्यकमुद्राणां लाभोऽपि किल चेद्वरम् ।
तथापि नो निजं नाम दूषयन्ति सुवंशजाः ॥४॥

पुरातनमहावंशजातान् पश्यन्तु भो जनाः ।
न त्यजन्ति गतैश्वर्या अपि ये स्वामुदारताम् ॥५॥

प्रतिष्ठितं कुलाचारं रक्षितुं ये समुद्यताः ।
ते कुकृत्यं न कुर्वन्ति भवन्ति न च मायिनः ॥६॥

शुद्धान्वये प्रसूतस्य दोषः सर्वैः समीक्ष्यते ।
चन्द्रबिम्बे यथा लग्नः कलङ्कः कैर्न दृश्यते ॥७॥

विशुद्धकुलजातोऽपि भाषते गर्हितं यदि ।
आशङ्कां तर्हि कुर्वन्ति लोकास्तज्जननेऽपि च ॥८॥

आख्याति भूमिमाहात्म्यं यथा वृक्षः फलश्रिया ।
वाणी वक्ति तथा लोके मनुष्यस्य कुलस्थितिम् ॥९॥

सलज्जो भव चेदिच्छा साधुत्वे सद्गुणेषु च ।
औचित्येन समं ब्रूहि चेदिच्छा वंशगौरवे ॥१०॥

---

१. दानप्रियवचनाभ्याम् ।

परिच्छेदः १७

प्रतिष्ठा

आत्मनः पतनं यस्मात् तस्माद् भवतु दूरगः ।
अपि चेत्प्राणरक्षायै तस्यात्यावश्यकी स्थितिः ॥१॥

कामयन्ते निजां कीर्तिं जीवनोपरमेऽपि ये ।
अपि प्रभाववृद्ध्यर्थमयोग्यं कुर्वते न ते ॥२॥

समृद्धौ कुरु हे भव्य विनयश्रीसुवर्पणम् ।
क्षीणस्थितौ तु सम्माने दृष्टिमान् भव सर्वदा ॥३॥

कुकृत्यैर्दूपिता येन स्वप्रतिष्ठा महीतले ।
स मनुष्यस्तथा भाति कर्तिता अलका यथा ॥४॥

गुञ्जातुल्यमपि स्वल्पं कुर्याच्चेत् किल्विषं नरः ।
क्षुद्रो भवति भूत्वापि प्रभावे गिरिसन्निभः ॥५॥

न यशो वर्द्धते यस्मान् नापि स्वर्गश्च लभ्यते ।
घृणाकर्तुः कथं तस्य भक्त्या जीवितुमिच्छसि ॥६॥

घृणाकर्तुः पदर्शादिदमेव वरं ध्रुवम् ।
यद्भाग्ये लिखितं भोक्तुं सज्जः स्यान् निर्विकल्पकः ॥७॥

अनर्घं वस्तु किं कायो यन्मोहान् मोहिता जनाः ।
रक्षन्ति तं महायत्नैर्विक्रीयापि स्वगौरवम् ॥८॥

आत्मानं हन्ति केशेषु कान्तारे चमरी यथा ।
स्वाभिमानी तथा हन्ति मानार्थं स्वस्य जीवितम् ॥९॥

हते माने पुनर्लोके यो न जीवितुमिच्छति ।
लोकास्तस्य यशोवेदौ क्षिपन्ति कुसुमाञ्जलिम् ॥१०॥

परिच्छेदः १८

महत्त्वम्

उच्चकार्यचिकीर्षैव महत्त्वं परिभाष्यते ।
विना तेन भवत्येषा क्षुद्रतानामधारिणी ॥१॥
जन्मना सदृशाः सर्वे मानवाः सन्ति भूतले ।
कीर्तौ किन्तु महान् भेदस्तेषां कार्यप्रभेदतः ॥२॥
कुलीनोऽपि कदाचारात् कुलीनो नैव जायते ।
निम्नजोऽपि सदाचारान् न निम्नः प्रतिभासते ॥३॥
निर्व्याजया बहिर्वृत्या विशुद्ध्या चात्मनः सदा ।
महत्त्वं रक्ष्यते पुंसा यथाशीलं कुलस्त्रिया ॥४॥
साधनानां प्रयोक्तारो महान्तो हि निसर्गतः ।
भवन्त्यशक्यकार्याणां स्रष्टारोऽपि स्वकौशलात् ॥५॥
लघूनां स्वल्पबुद्धीनां सर्ग एव तथाविधः ।
यत् प्रतिष्ठा न पूज्यानां न चेच्छा तत्कृपाप्तये ॥६॥
सम्पत्तिः प्राप्यते काचिद् यदि क्षुद्रैः सुदैवतः ।
मानप्रदर्शनं तेषां निस्सीमं जायते ततः ॥७॥
नीचैर्वृत्तिर्महत्तायां परं नैव प्रदर्शनम् ।
भवतीति सुविख्यातं क्षुद्रता विश्वघोषिका ॥८॥
महतां लघुभिः सार्धं व्यवहारो दयान्वितः ।
स्निग्धश्च जायते किन्तु क्षुद्रो मूर्त इव स्मयः ॥९॥
उदात्ताः परदोषाणां निसर्गादुपगूहकाः ।
अनुदात्ताश्च विद्यन्ते परच्छिद्रगवेषकाः ॥१०॥

परिच्छेदः ११

योग्यता

कार्यस्वरूपमालोच्य योग्यतायै समाहिताः ।
कर्तव्यमेव तत्सर्वं मन्यन्ते यद्गुणास्पदम् ॥१॥

सद्वृत्तमेव भद्राणां सौन्दर्यं सुमनोहरम् ।
देहरूपं परं तत्र नास्ति वैचित्र्यकारणम् ॥२॥

दाक्षिण्यं विश्वबन्धुत्वं लज्जा सूनृतगृह्यता[1] ।
गोपनश्चान्यदोषाणां सद्वृत्तस्तम्भपञ्चकम् ॥३॥

महर्षीणां यथा धर्मः सर्वसत्वानुकम्पनम् ।
भद्राणाञ्च तथा धर्मो दोषस्यानपकीर्तनम् ॥४॥

लघुता नम्रता चापि बलिनामेव सद्बले ।
जयार्थं ते हि शत्रूणां सतां सन्नाहसन्निभे ॥५॥

लघूनामपि योग्यानामादरो गुणरागतः ।
जायते यत्र शाणोऽसौ योग्यतायाः प्रकीर्तितः ॥६॥

कोऽर्थस्तस्य महत्त्वेन योग्यस्यापि महामतेः ।
खलैरपि समं यस्य सद्वृत्तिर्नैव दृश्यते ॥७॥

निर्धनत्वं महादोषो गुणराशिविनाशकः ।
किन्त्वाचारवतः सोऽपि नालं गौरवहानये ॥८॥

विपदां सन्निपातेऽपि सन्मार्गान्न स्खलन्ति ये ।
प्रलयान्तेऽपि ते सन्ति सीमान्ता योग्यताम्बुधेः ॥९॥

विहाय भद्रतां भद्रा अभद्रा हन्त चेदहो ।
मानवानां क्षितिर्भारं वोढुं नैवाक्षमिष्यत ॥१०॥

---

१. सत्यपक्षाश्रितता ।

परिच्छेदः १००

सभ्यता

निर्व्याजचेतसा नित्यं स्वागताय समुद्यताः ।
अपूर्वेषु प्रियालापा भवन्ति प्रियदर्शनाः ॥१॥

ज्ञानमूलाः सुसंस्कारा हृदये च दयालुता ।
चेद् गुणद्वयसम्बन्धाद् हर्षवृद्धिः प्रजायते ॥२॥

आकृतौ सति साम्येऽपि न साम्यं मन्यते बुधः ।
आचारैश्च विचारैश्च साम्यं वै हर्षदायकम् ॥३॥

सन्नीत्या धर्मबुद्ध्या च लोकाननुपकरोति यः ।
स्तुवन्ति सुजनास्तस्य प्रकृतिं पुण्यरूपिणीम् ॥४॥

उक्तं हास्येऽपि दुर्वाक्यं जनानामरुन्तुदम्[1] ।
दुर्व्याहृतं[2] न कर्तव्यं भद्रैस्तस्माद् रिपावपि ॥५॥

सार्वाः सद्गुणसम्पन्ना आर्याः सन्ति महीतले ।
दयादाक्षिण्यसम्पूर्णं तेनेदं वर्तते जगत् ॥६॥

आचारात्पतितो नैव शिक्षितोऽपि शुभावहः ।
सुव्रश्चनो[3] यथा नैव रणे दण्डाद् बृहत्तरः ॥७॥

अनम्रता नरस्यार्यैः सदा सर्वत्र गर्हिता ।
अन्यायिनि विपक्षे वा प्रयुक्ताऽपि न शोभते ॥८॥

स्मितं न जायते यस्य विस्तृते धरणीतले ।
तस्याभाग्यवतो नूनं दिनेऽपि निबिडं तमः ॥९॥

कुपात्रे निहितं क्षीरं यथैवास्ति निरर्थकम् ।
वैफल्यं हि तथा याति वित्तं दुर्जनसद्मनि ॥१०॥

---

१. हृदयव्यथाकरम् । २. दुर्भाषणम् । ३. लोहवर्धनी ।

परिच्छेदः १०१

निरुपयोगिधनम्

निजगेहे कृतो येन विपुलस्त्वर्थसंग्रहः ।
व्यये किन्तु कदर्योऽस्ति ततो मृतवदेव सः ॥१॥

धनमेव परं वस्तु वर्तते वसुधातले ।
इत्यर्थाय मृतो गृध्नू राक्षसोऽमुत्र जायते ॥२॥

वित्तार्थन्तु महोत्साहः कीर्त्यै किन्तु निरादरः ।
येषां ते सन्ति निस्सारा भुवो भाराय केवलाः ॥३॥

स्वस्मिन् नैवार्जिता येन सुप्रीतिः प्रतिवेशिनाम् ।
आशा कास्ति पुनस्तस्य प्राणान्ते यां समुत्सृजेत् ॥४॥

न दत्ते नापि भुङ्क्ते यो लोभोपहतमानसः ।
जातु चेत् कोट्यधीशोऽपि वस्तुतः सोऽस्ति निर्धनः ॥५॥

परस्मै ददते नैव भुञ्जते नापि ये स्वयम् ।
ते सन्ति कृपणा लोके स्वलक्ष्म्या रोगरूपिणः ॥६॥

देशे काले च पात्रे च यद्वित्तं नैव दीयते ।
मोघं तदपि सुन्दर्या वनस्थायाः सुरूपवत् ॥७॥

सन्तो यया न सुप्रीताः सा लक्ष्मीर्ननु तादृशी ।
ग्राममध्ये यथा जातः फलितो विषपादपः ॥८॥

धर्माधर्मावनादृत्य बुभुक्षाञ्च विषह्य यः ।
सञ्चीयते निधिर्नित्यं परेषां स हितावहः ॥९॥

आपन्नार्तिविनाशेन वदान्यस्य दरिद्रता ।
जाता जातु न नित्या सा मेघस्येव सुवर्षणात् ॥१०॥

परिच्छेदः १०२

लज्जाशीलता

भद्रो जिह्रेति लोकेऽस्मिन् प्रमादादेव सर्वदा ।
सुन्दरीणामतो भिन्ना लज्जा भवति सर्वथा ॥१॥

इयं लज्जैव मर्त्येषु वर्तते भेदकारिणी ।
अन्यथा सदृशाः सर्वे वस्त्रसन्तानभुक्तिभिः ॥२॥

वसन्ति सर्वदेहेऽस्मिन् प्राणा यद्यपि देहिनाम् ।
नरस्य योग्यता किन्तु लज्जामावसति ध्रुवम् ॥३॥

हृदये गुणिता लज्जा रत्नतुल्यो महानिधिः ।
उत्सेको गतलज्जस्य चक्षुषोः कष्टकारकः ॥४॥

मानभङ्गं परस्यापि वीक्ष्य स्वस्यैव ये जनाः ।
त्रपन्ते ते महात्मानः शीलसंकोचमूर्तयः ॥५॥

निन्दितैः साधनैर्नापि राज्यं गृह्णन्ति साधवः ।
उपेक्षां तेऽत्र तन्वन्ति कीर्तिकान्तानुरागिणः ॥६॥

लज्जात्राणाय मुञ्चन्ति निजाङ्गं भद्रवृत्तयः ।
न त्यजन्ति ह्रियं वा ते प्राप्तेऽपि प्राणसंकटे ॥७॥

परो हि त्रपते यस्मात् ततो यो नैव लज्जते ।
पतितः स नरो नूनं ततो जिह्रेति भद्रता ॥८॥

विस्मृताश्चेत् कुलाचाराः कुलभ्रष्टोऽभिजायते ।
लज्जायां किन्तु नष्टायां सर्वे नश्यन्ति सद्गुणाः ॥९॥

लज्जावारि मनुष्यस्य चक्षुर्भ्यां किल चेच्च्युतम् ।
जीवनं मरणं तस्य काष्ठपुत्तलसन्निभम् ॥१०॥

परिच्छेदः १०३

कुलोन्नतिः

अहर्निशं श्रमिष्यामि विना श्रान्तिं करद्वयात् ।
नरस्यायं हि संकल्पः कुलोत्कर्षैककारणम् ॥१॥
योगक्षेमपरा बुद्धिः श्रमश्च पौरुषान्वितः ।
इमे स्तो वंशवृद्ध्यर्थं समर्थे द्वे हि कारणे ॥२॥
कुलोन्नतिं यदा कर्तुं नरो भवति सज्जितः ।
कटिबद्धाः सुरा यान्ति तदग्रे स्वयमव्यथाः ॥३॥
येन मुक्तं न चेत्किञ्चित् कुलोत्कर्षचिकीर्षया ।
स्वल्पमप्यस्तु तत्कार्यं सिद्धये किन्तु निश्चितम् ॥४॥
अनघैश्चरितैर्नित्यं यः करोति कुलोन्नतिम् ।
स उदात्तः सदा मान्यस्तन्मित्रं क्षितिमण्डलम् ॥५॥
स वंशो गुरुतां नीतः श्रियि ज्ञाने बले च वा ।
यत्र जन्म मनुष्यस्य पौरुषं तस्य पौरुषम् ॥६॥
वीरमेव यथा युद्धे प्रहरन्त्यरयो भृशम् ।
शक्त स्कन्धौ तथा लोके कुलभारोऽभिगच्छति ॥७॥
कुलोन्नतिं चिकीर्षोस्तु सर्वे काला हितावहाः ।
प्रत्यनीके प्रमादेन कुलपातो विनिश्चितः ॥८॥
कुटुम्बरक्षिणां कायं वीक्ष्यैवं धीः प्रजायते ।
श्रमार्थमथ दुःखार्थं किमसौ विधिना कृतः ॥९॥
यस्य नास्ति कुटुम्बस्य पालकः सत्प्रबन्धकः ।
तन्मूले विपदां घातात् पतनं तस्य जायते ॥१०॥

परिच्छेदः १०४

कृषिः

नरो गच्छतु कुत्रापि सर्वत्रान्नमपेक्षते ।
तत्सिद्धिश्च कृषेस्तस्मात् सुभिक्षेऽपि हिताय सा ॥१॥
कृषीवला धुरा तुल्या देशरूपस्य चक्रिणः ।
अकृपाणा यतः सन्ति नूनं तदुपजीविनः ॥२॥
ये जीवन्ति कृषिं कृत्वा ते नराः सत्यजीविनः ।
परपिण्डादिनः किन्तु सर्वेऽन्ये सन्ति मानवाः ॥३॥
स्निग्धच्छायासु सस्यानां क्षेत्राणि यस्य शेरते ।
तद्देशीयनृपच्छत्रादधः स्युश्छत्रिणः परे ॥४॥
अभिक्षुकाः परं नैव दानिनोऽप्यनिषेधकाः ।
ते सन्ति ये कृषिं नित्यं कुर्वते साधुमानवाः ॥५॥
कृषीवलाः कृषेः कार्याद् विरताश्चेत् कथञ्चन ।
सन्यासिनोऽपि ये जातास्तेऽपि स्युर्वज्रपीडिताः ॥६॥
जलार्द्रा खलु चेन्मृत्स्ना शोषयेत् तां रवेः करैः ।
तुर्यांशस्यावशेषे सा निःखाद्यापि बहूर्वरा ॥७॥
कर्षणात् खाद्यदानेषु निन्द्यदानादनन्तरम्[1] ।
अम्बुसेकाच्च रक्षायां भवन्ति बहवो गुणाः ॥८॥
यः पश्यति कृषिं नैव गृहे नित्यमवस्थितः ।
सुभार्येव कृषिस्तस्मै कुप्यति क्षीणदेहिका ॥९॥
भक्षणाय न मे किञ्चिदस्तीति वचनं भृशम् ।
वदन्तं क्रन्दमानञ्च हसत्युर्वीरमालसम्[2] ॥१०॥

---

१. निन्द्यतृणखण्डनात् । २. पृथ्वीलक्ष्मीरलसम् ।

परिच्छेदः १०५

दरिद्रता

दारिद्र्यादधिकं लोके वर्तते किन्नु दुःखदम् ।
इति पृच्छास्ति चेत्तर्हि शृणु सैवास्ति निःस्वता[1] ॥१॥

हतदैवं हि दारिद्र्यमस्त्येवेहाति दुःखदम् ।
पारलौकिकभोगानामप्यास्ते किन्तु घातकम् ॥२॥

तृष्णानुबन्धिदारिद्र्यं सत्यं गर्ह्यातिगर्हितम् ।
वंशस्य गुरुतां हन्ति वाचो यच्च मनोज्ञताम् ॥३॥

हीनस्थितिर्मनुष्यस्य महती कष्टदायिनी ।
हीना इव प्रभापन्ते सुवंश्या अपि यद्वशात् ॥४॥

अभिशापोऽस्ति दैवस्य दारिद्र्यापरनामकः ।
निलीनाः सन्ति यस्याधो विपदो हि सहस्रशः ॥५॥

रिक्तस्य न हि जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।
अलमन्यैर्न लोकेभ्यो रोचते तत्सुभाषितम् ॥६॥

आदौ रिक्तः पुनर्धर्माद्धीनो यस्तु पुमानहो ।
पौरुषं तस्य संवीक्ष्य तन्मातैव जुगुप्सते ॥७॥

किन्न मुञ्चसि दुःखार्तं मामद्यापि दरिद्रते ।
ह्य एव हि महादुष्टे कृतः सामिमृतस्त्वया[2] ॥८॥

तप्तशूलेषु सुष्वापः कदाचित् सम्भवत्यहो ।
आकिञ्चन्ये च मर्त्यस्य सुखनिद्रा न संभवा ॥९॥

उत्सृजन्ति निजप्राणान् यदि नो निर्धना नराः ।
तर्ह्यन्येषां वृथा याति भक्तं पानञ्च सैन्धवम् ॥१०॥

---

१. निर्धनता । २. अर्धमृतः ।

परिच्छेद १८

निर्लोभिता

परधन लेने के लिए, जिसका मन ललचाय ।
नीतिविमुख वह क्रूरतम, क्षीण-वंश हो जाय ॥१॥

जिसे घृणा है पाप से, वह नर करे न लोभ ।
लगे न वह दुष्कर्म में, बढ़े न जिससे क्षोभ ॥२॥

परसुखचिन्तक श्रेष्ठजन, त्यागें सदा अकार्य ।
क्षुद्र-सुखों के लोभ में, बनते नहीं अनार्य ॥३॥

जिसके वश में इन्द्रियाँ, तथा उदार विचार ।
ईप्सित भी परवस्तु लूँ, उसके ये न विचार ॥४॥

ऐसी बुद्धि न काम की, लालच जिसे फँसाय ।
तथा समझ वह निन्द्य जो, दुष्कृति अर्थ सजाय ॥५॥

उत्तम पथ के जो पथिक, यश के रागी साथ ।
मिटते वे भी लोभवश, रच कुचक्र निज हाथ ॥६॥

तृष्णासंचित द्रव्य का, भोगकाल विकराल ।
त्यागो इसकी कामना, जिससे रहो निहाल ॥७॥

न्यून न हो मेरी कभी, लक्ष्मी ऐसी चाह ।
करते हो तो छीन धन, लो न पड़ौसी आह ॥८॥

विदितनीति परधनविमुख, जो बुध, तो सस्नेह ।
ढूंढ़त ढूंढ़त आप श्री, पहुँचे उसके गेह ॥९॥

दूरदृष्टि से हीन का, तृष्णा से संहार ।
निर्लोभी की श्रेष्ठता, जीते सब संसार ॥१०॥

परिच्छेद १८

निर्लोभिता

१—जो पुरुष सन्मार्ग छोड़ कर दूसरे की सम्पत्ति लेना चाहता है उसकी दुष्टता बढ़ती जायगी और उसका परिवार क्षीण हो जायगा।

२—जो पुरुष बुराई से विमुख रहते हैं वे लोभ नहीं करते और न दुष्कर्मों की ओर ही प्रवृत्त होते हैं।

३—जो मनुष्य अन्य लोगों को सुखी देखना चाहते हैं, वे छोटे मोटे सुखों का लोभ नहीं करते और न अनीति का ही काम करते हैं।

४—जिन्होंने अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में कर लिया है और जिनकी दृष्टि विशाल है, वे यह कह कर दूसरे की वस्तुओं की कामना नहीं करते, ओ हो हमें इनकी अपेक्षा है।

५—वह बुद्धिमान् और समझदार मन किस काम का जो लालच में फँस जाता है और अविचार के कामों के लिए उतारू होता है।

६—वे लोग भी जो सुयश के भूखे हैं और सन्मार्ग पर चलते हैं, नष्ट हो जायेंगे, यदि धन के फेर में पड़कर कोई कुचक्र रचेंगे।

७—लालच द्वारा एकत्रित किये हुए धन की कामना मत करो, क्योंकि भोगने के समय उसका फल तीखा होगा।

८—यदि तुम चाहते हो कि हमारी सम्पत्ति कम न हो तो तुम अपने पड़ोसी के धन-वैभव को ग्रसने की कामना मत करो।

९—जो बुद्धिमान् मनुष्य न्याय की बात को समझता है और दूसरों की वस्तुओं को लेना नहीं चाहता, लक्ष्मी उसकी श्रेष्ठता को जानती है और उसे ढूँढ़ती हुई उसके घर जाती है।

१०—दूरदर्शिताहीन लालच नाश का कारण होता है, पर जो, यह कहता है कि मुझे किसी वस्तु की आकांक्षा ही नहीं, उस तृष्णाविजयी की 'महत्ता' सर्वविजयी होती है।

परिच्छेद १९

चुगली से घृणा

'खाता यह चुगली नहीं', पर की ऐसी बात ।
सुनकर खल भी फूलता, जिसे न नीति सुहात ॥१॥

परहित तज, पर का अहित, करना निन्दित काम ।
मधुमुख पर उससे बुरा पीछे निन्दाधाम ॥२॥

मृषा, अधम जीवन बुरा, उससे मरना श्रेष्ठ ।
कारण ऐसी मृत्यु से, बिगड़ें कार्य न श्रेष्ठ ॥३॥

मुख पर ही गाली तुम्हें, दीहो बिना विचार ।
तो भी उसकी पीठ पर, बनो न निन्दाकार ॥४॥

मुख से कितनी ही भली, यद्यपि बोले बात ।
पर जिह्वा से चुगल का, नीचहृदय खुल जात ॥५॥

निन्दाकारी अन्य के, होगे तो स्वयमेव ।
खोज खोज चिल्लायँगे, वे भी तेरे ऐब ॥६॥

मैत्रीरस–अनभिज्ञ जो, उक्तिमाधुरीहीन ।
वह ही बोकर फूट को, करता तेरह–तीन ॥७॥

खुल कर करते मित्र की, जो अकीर्ति का गान ।
वे कब छोड़ें शत्रु का, अपयश का व्याख्यान ॥८॥

धैर्य सहित उर में सहे, निन्दक पादप्रहार ।
धर्म ओर फिर फिर तके, भू, उतारवे भार ॥९॥

अन्य मनुज के दोष सम, जो देखे निज दोष ।
उस समान कोई नहीं, भू-भर में निर्दोष ॥१०॥

परिच्छेद १९

चुगली से घृणा

१—जो मनुष्य सदा अन्याय करता है और न्याय का कभी नाम भी नहीं लेता, उसको भी प्रसन्नता होती है, जब कोई कहता है—देखो, यह आदमी किसी की चुगली नहीं खाता।

२—सत्कर्म से विमुख हो जाना और कुकर्म करना निस्सन्देह बुरा है, पर मुख पर हँस कर बोलना और पीठ पीछे निन्दा करना उससे भी बुरा है।

३—झूठ और चुगली के द्वारा जीवन व्यतीत करने से तो तत्काल ही मर जाना अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार मर जाने से शुभकर्म का फल मिलेगा।

४—पीठ पीछे किसी की निन्दा न करो, चाहे उसने तुम्हारे मुख पर ही तुम्हें गाली दी हो।

५—मुख से चाहे कोई कितनी ही धर्म कर्म की बातें करे पर उसकी चुगलखोर जिह्वा उसके हृदय की नीचता को प्रगट कर ही देती है।

६—यदि तुम दूसरे की चुगली करोगे तो वह तुम्हारे दोषों को खोज कर उनमें से बुरे से बुरे दोषों को प्रगट कर देगा।

७—जो मधुर बचन बोलना और मित्रता करना नहीं जानते वे चुगली करके फूट का बीज बोते हैं और मित्रों को एक दूसरे से जुदा कर देते हैं।

८—जो लोग अपने मित्रों के दोषों को स्पष्ट रूप से सबके सामने कहते हैं, वे अपने वैरियों के दोषों को भला कैसे छोड़ेंगे?

९—पृथ्वी अपनी छाती पर निन्दा करने वाले के पदाघात को धैर्य के साथ किस प्रकार सहन करती है! क्या चुगलखोर के भार से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए ही धर्म की ओर बार बार ताकती है?

१०—यदि मनुष्य अपने दो[illegible] ना उसी प्रकार करे जिस प्रकार कि वह अपने [illegible] की करता है, तो क्या उसे कभी कोई दोष स्पर्श [illegible]

परिच्छेद २०

व्यर्थ-भाषण

अर्थशून्य जिसके वचन, सुन उपजे उद्वेग ।
उस नर के सम्पर्क से, बचते सभी सवेग ॥१॥

मित्रों को भी क्लेश दे, उससे अधिक निकृष्ट ।
गोष्ठी में जो व्यर्थ का, भाषण देता धृष्ट ॥२॥

दम्भभरा निस्सार जो, भाषण दे निश्शंक ।
घोषित करे अयोग्यता, मानो प्रज्ञारंक ॥३॥

कर प्रलाप बुधवृन्द में, लाभ न कुछ भी हाथ ।
जो भी अच्छा अंश है, खोता वह भी साथ ॥४॥

बकवादी यदि योग्य हो, तो भी दिखे अयोग्य ।
गौरव से वह रिक्त हो, मान न पाता योग्य ॥५॥

रुचि जिसकी बकवाद में, मानव उसे न मान ।
आवश्यक ही कार्य लें, कचरा सम धीमान ॥६॥

उचित जचे तो बोल ले, चाहे कर्कश बात ।
वृथालाप से तो वही, दिखती उत्तम तात ॥७॥

तत्त्वज्ञान विचार में, जिनका मन संलग्न ।
वे ऋषिवर होते नहीं, क्षणभर विकथा-मग्न ॥८॥

जिनकी दृष्टि विशाल वे, प्राज्ञोत्तम गुणधाम ।
कभी न करते भूलकर, बकवादी के काम ॥९॥

भाषण के जो योग्य हो, वह ही बोलो बात ।
और न उसके योग्य जो, तज दीजे वह भ्रात ॥१०॥

परिच्छेद ३०

व्यर्थ-भाषण

१—निरर्थक शब्दों से जो अपने श्रोताओं में उद्वेग लाता है वह सब के तिरस्कार का पात्र है।

२—अपने मित्रों को दुःख देने की अपेक्षा भी अनेक लोगों के आगे व्यर्थ की बकवाद करना बहुत बुरा है।

३—जो निरर्थक शब्दों का आडम्बर फैलाता है वह अपनी अयोग्यता को ऊँचे स्वर से घोषित करता है।

४—सभा में जो व्यर्थ की बकवाद करता है, उस मनुष्य को देखो, उसे और कुछ तो लाभ होने का नहीं, पर जो कुछ उसके पास अच्छी बातें होंगी वे भी छोड़कर चली जावेंगी।

५—यदि व्यर्थ की बकवाद अच्छे लोग भी करने लगें तो वे भी अपने मान और आदर को खो बैठेंगे।

६—जिसे निरर्थक बातों के करने की अभिरुचि है उसे मनुष्य ही न मानना चाहिए, कदाचित् उससे भी कोई काम आ पड़े तो समझदार आदमी उससे कचरे के समान ही काम ले ले।

७—यदि समझदार को योग्य मालूम पड़े तो मुख से कठोर शब्द कहले, क्योंकि यह निरर्थक भाषण से कहीं अच्छा है।

८—जिनके विचार बड़े बड़े प्रश्नों को हल करने में लगे रहते हैं ऐसे लोग विकथा के शब्द अपने मुख से निकालते ही नहीं।

९—जिनकी दृष्टि विस्तृत है वे भूल कर भी निरर्थक शब्दों का उच्चारण नहीं करते।

१०—मुख से निकालने योग्य शब्दों का ही तू उच्चारण कर, परन्तु निरर्थक अर्थात् निष्फल शब्द मुख से मत निकाल।

परिच्छेद २२

परोपकार

बदले की आशा बिना, सन्त करें उपकार ।
बादल का बदला भला, क्या देता संसार ॥१॥

बहुयत्नों से आर्य जो, करते अर्जित अर्थ ।
वह सब होता अन्त में, परहित के ही अर्थ ॥२॥

हार्दिकता से पूर्ण जो, होता है उपकार ।
भू में या फिर स्वर्ग में, उस सम वस्तु न सार ॥३॥

योग्यायोग्य विचार ही, नर का जीवित रूप ।
होता है विपरीत पर, मृतकों सा विद्रूप ॥४॥

पूर्ण लबालब जो भरा, ग्राम-सरोवर पास ।
उस सम शोभा भव्य की, जिसमें प्रेमनिवास ॥५॥

ग्रामवृक्ष के फूल-फल, भोगें जैसे लोग ।
उन्नत-मन के द्रव्य का, वैसा ही उपभोग ॥६॥

उस तरु के ही तुल्य है, उत्तम नर की द्रव्य ।
औषधि जिसके अंग हैं, सदा हरा वह भव्य ॥७॥

दुःखस्थिति में भी सुधी, रखता योग्य विचार ।
पर, वत्सल तजता नहीं, करना पर-उपकार ॥८॥

उपकारी निजको तभी, माने धन से हीन ।
याचक जब ही लौटते, होकर आशाहीन ॥९॥

होवे यद्यपि नाश ही, पर उत्तम उपकार ।
बिककर बन परतंत्र तू, फिर भी कर उपकार ॥१०॥

परिच्छेद २२

परोपकार

१—महान् पुरुष जो उपकार करते हैं उसका बदला नहीं चाहते। भला संसार जल बरसाने वाले बादलों का बदला किस भाँति चुका सकता है ?

२—योग्य पुरुष अपने हाथों से परिश्रम करके जो धन जमा करते हैं, वह सब जीवमात्र के उपकार के लिए ही होता है।

३—हार्दिक उपकार से बढ़कर न तो कोई चीज इस भूतल में मिल सकती है और न स्वर्ग में।

४—जिसे उचित अनुचित का विचार है, वही वास्तव में जीवित है और जिसे योग्य अयोग्य का ज्ञान नहीं हुआ उसकी गणना मृतकों में की जायगी।

५—लबालब भरे हुए गाँव के तालाब को देखो, जो मनुष्य सृष्टि से प्रेम करता है उसकी सम्पत्ति उसी तालाब के समान है।

६—सहृदय व्यक्ति का वैभव गाँव के बीचों बीच उगे हुए और फलों से लदे हुए वृक्ष के समान है।

७—परोपकारी के हाथ का धन उस वृक्ष के समान है जो औषधियों का सामान देता है और सदा हरा बना रहता है।

८—देखो, जिन लोगों को उचित और योग्य बातों का ज्ञान है, वे बुरे दिन आने पर भी दूसरों का उपकार करने से नहीं चूकते।

९—परोकारी पुरुष उसी समय अपने को गरीब समझता है जबकि वह सहायता मांगने वालों की इच्छा पूर्ण करने मे असमर्थ होता है।

१०—यदि परोपकार करने के फलस्वरूप सर्वनाश उपस्थित हो, तो दासत्व मे फँसने के लिए आत्म-विक्रय करके भी उसको सम्पादन करना उचित है।

परिच्छेद २४

कीर्ति

दीनजनों को दान दे, करो कीर्तिविस्तार ।
कारण उज्ज्वलकीर्ति सम, अन्य न कुछ भी सार ॥१॥
जो दयालु करते सदा, दीनजनों को दान ।
सदा प्रशंसक-कण्ठ में, उनका नाम महान ॥२॥
जो पदार्थ इस विश्व में, निश्चित उनका नाश ।
अतुलकीर्ति ही एक है, जिसका नहीं विनाश ॥३॥
स्थायी यश जिसका अहो, छाया सर्वदिगन्त ।
माने उसको देव भी, ऋषि से अधिक महन्त ॥४॥
जिनसे बढ़ती कीर्ति है, ऐसे मृत्यु-विनाश ।
वीरों के ही मार्ग में, आते दोनों खाश ॥५॥
जो लेते नरजन्म तो, करो यशस्वी कर्म ।
यदि ऐसा करते नहीं, मत धारो नर-चर्म ॥६॥
निन्दकजन पर अज्ञ यह, करता है बहुरोष ।
पर निजपर करता नही, रखकर भी बहुदोष ॥७॥
उन सबकी इस लोक में, नहीं प्रतिष्ठा तात ।
जिनकी स्मृति कुछ भी नहीं, कीर्तिमयी विख्यात ॥८॥
भ्रष्टकीर्तिनर-भार से, जब जब दबता देश ।
पूर्वऋद्धि के साथ में, तब तब उजड़े देश ॥९॥
वह ही जीवित लोक में, जिसको नहीं कलंक ।
मृतकों में नर है वही, यश जिसका सकलंक ॥१०॥

परिच्छेद २४

कीर्ति

१—गरीबों को दान दो और कीर्ति कमाओ, मनुष्य के लिए इससे बढ़कर लाभ और किसी में नहीं है।

२—प्रशंसा करने वालों के मुख पर सदा उन लोगों का नाम रहता है कि जो गरीबों को दान देते हैं।

३—जगत् में और सब वस्तुएँ नश्वर हैं, परन्तु एक अतुलकीर्ति ही मनुष्य की नश्वर नहीं है।

४—देखो, जिस मनुष्य ने दिगन्तव्यापी स्थायी कीर्ति पायी है, स्वर्ग में देवता लोग उसे साधु-सन्तों से भी बढ़कर मानते हैं।

५—वह विनाश जिससे कीर्ति में वृद्धि हो और वह मृत्यु जिससे लोकोत्तर यश की प्राप्ति हो, ये दोनों बातें महान् आत्म-बलशाली पुरुषों के मार्ग में ही आती हैं।

६—यदि मनुष्य को जगत् में पैदा ही होना है तो उसको चाहिए कि वह सुयश उपार्जन करे। जो ऐसा नहीं करता उसके लिए तो यही अच्छा था कि वह जन्म ही न लेता।

७—जो लोग दोषों से सर्वथा रहित नहीं हैं वे स्वयं निज पर तो नहीं बिगड़ते, फिर वे अपनी निन्दा करने वालों पर क्यों क्रुद्ध होते हैं?

८—निस्सन्देह यह मनुष्यों के लिए बड़ी ही लज्जा की बात है कि वे उस चिरस्मृति का सम्पादन नहीं करते जिसे लोग कीर्ति कहते हैं।

९—बदनाम लोगों के बोझ से दबे हुए देश को देखो, उसकी समृद्धि भूतकाल में चाहे कितनी ही बढ़ी चढ़ी क्यों न रही हो, धीरे धीरे नष्ट हो जायगी।

१०—वही लोग जीते हैं जो निष्कलङ्क जीवन व्यतीत करते हैं और जिन का जीवन कीर्तिविहीन है, वास्तव में वे ही मुर्दे हैं।

परिच्छेद २५

दया

बड़े पुरुष करुणामयी, मन से ही श्रीमान ।
लौकिक धन से क्षुद्र भी, होते हैं धनवान ॥१॥
सोच समझ क्रमवार ही, करो दया के कर्म ।
मुक्तिमार्ग उसको सभी, कहें जगत के धर्म ॥२॥
सूर्य विना जिस लोक में, छाया तम ही प्राज्य ।
वहाँ न लेते जन्म वे, जिनमें करुणाराज्य ॥३॥
जिन पापों के नाम से, काँप उठे यह जीव ।
वह उनको भोगे नहीं, जिसमें दया अतीव ॥४॥
दयाधनी पाता नहीं, क्लेशभरा सन्ताप ।
साक्षी इसमें है मही, मारुतवेष्ठित आप ॥५॥
दयाधर्म जिसने तजा, होता उस पर शोक ।
चख कर भी फल पाप के, भूल गया अघशोक ॥६॥
जैसे वैभवहीन को, नहीं सुखद यह लोक ।
दयाशून्य नर को नहीं, वैसे ही परलोक ॥७॥
ऐहिक धन से क्षीण फिर, हो सकता धनवान ।
शुभ-दिन पर उसको नहीं, जिसमें करुणा म्लान ॥८॥
सत्य सुलभ उसको नहीं, जिसमें मोहविकार ।
सहज न वैसे क्रूर को, करुणा का अधिकार ॥९॥
दुर्बल की जैसी दशा, करता है तू क्रूर !
वैसी हो तेरी दशा, तब कैसा हो शूर ॥१०॥

परिच्छेद २५

दया

१—दया से लवालव भरा हुआ हृदय ही संसार में सबसे बड़ी सम्पत्ति है क्योंकि भौतिक विभूति तो नीच मनुष्यों के पास भी देखी जाती है।

२—ठीक पद्धति से सोच विचार कर हृदय में दया धारण करो और यदि तुम सब धर्मों से इस बारे में पूछकर देखोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि दया ही एकमात्र मुक्ति का साधन है।

३ - जिन लोगों का हृदय दया से ओत प्रोत है वे अंधकारपूर्ण नरक में प्रवेश न करेंगे।

४—जो मनुष्य सब जीवों पर कृपा तथा दया दिखलाता है उसे उन पापपरिणामों को नहीं भोगना पड़ता जिन्हें देखकर ही आत्मा कॉप उठती है।

५—क्लेश दयालु पुरुषों के लिए नहीं है, वातवलय-वेष्टित पृथ्वी इस बात की साक्षी है।

६—खेद है उस आदमी पर जिसने दयाधर्म को त्याग दिया है और पाप के फल को भोग कर भी उसे भूल गया है।

७—जिस प्रकार यह लोक धनहीन के लिए नहीं, उसी प्रकार परलोक निर्दयी मनुष्य के लिए नहीं है।

८—ऐहिक वैभव से शून्य, गरीब लोग तो किसी दिन समृद्धिशाली हो सकते हैं, परन्तु जो लोग दया और ममता से रहित हैं सचमुच ही वे कङ्गाल हैं और उनके सुदिन कभी नहीं फिरते।

९—विकार ग्रस्त मनुष्य के लिए सत्य को पा लेना जितना सहज है, कठोर हृदय वाले पुरुष के लिए नीति के काम करना भी उतना ही आसान है।

१०—जब तुम किसी दुर्वल को सताने के लिए उद्यत हो तो सोचो कि अपने से वलवान मनुष्य के आगे भय से जब तुम कॉपोगे तब तुम्हें कैसा लगेगा?

परिच्छेद २६

निरामिष-जीवन

मांसवृद्धि के हेतु जो, मांस चखे रख चाव ।
उस नर में संभव नहीं, करुणा का सद्भाव ॥१॥
द्रव्य नहीं जैसे मिले, व्यर्थव्ययी के पास ।
आमिषभोजी में नहीं, वैसे दयाविकास ॥२॥
जो चखता है मांस को, उसका हृदय कठोर ।
डाकू जैसा शस्त्रयुत, झुके न शुभ की ओर ॥३॥
निस्संशय है क्रूरता, करना जीव-विघात ।
पर चखना तो मांस का, घोर पाप की बात ॥४॥
मांसत्याग से ही रहे, जीवन पूर्ण ललाम ।
यदि इससे विपरीत तो, बन्द नरक ही धाम ॥५॥
खाने की ही कामना, करें नहीं यदि लोग ।
आमिष-विक्रय का नहीं, आवे तो कुछ योग ॥६॥
एक बार ही जान ले, निज-सम ही परकष्ट ।
तो इच्छा कर मांस की, करे न जीवन भ्रष्ट ॥७॥
जो नर मिथ्याबुद्धि को, छोड़ बना सज्ञान ।
लाश नहीं वह खायगा, तन में रहते प्राण ॥८॥
मांस तथा परघात से, जिसको घृणा महान ।
कोटि यज्ञ का फल उसे, कहते हैं विद्वान ॥९॥
आमिष-हिंसा से घृणा, जो रखता मतिमान ।
हाथ जोड़ उसका सभी, करते हैं सम्मान ॥१०॥

परिच्छेद २६

निरामिष जीवन

१—भला उसके मन में दया कैसे आयेगी जो अपना मांस बढ़ाने के लिए दूसरों का मांस खाता है ?

२—व्यर्थव्ययी के पास जैसे सम्पत्ति नहीं ठहरती, ठीक वैसे ही मांस खाने वाले के हृदय में दया नहीं रहती।

३—जो मनुष्य मांस चखता है उसका हृदय शस्त्रधारी मनुष्य के हृदय के समान शुभकर्म की ओर नहीं झुकता।

४—जीवों की हत्या करना निस्सन्देह क्रूरता है, पर उनका मांस खाना तो सर्वथा पाप है।

५—मांस न खाने मे ही जीवन है। यदि तुम खाओगे तो नरक का द्वार तुम्हें बाहर निकल जाने देने के लिए कभी नहीं खुलेगा।

६—यदि लोग मांस खाने की इच्छा ही न करें तो जगत में उसे वेचने वाला कोई आदमी ही न रहेगा।

७—यदि मनुष्य दूसरे प्राणियों की पीड़ा और यन्त्रणा को एकबार समझ सके, तो फिर वह कभी मांसभक्षण की इच्छा ही न करेगा।

८—जो लोग माया और मूढ़ता के फन्दे से निकल गये हैं वे लाश को नहीं खाते।

९—प्राणियों की हिंसा व मांसभक्षण से विरक्त होना सैकड़ों यज्ञों में बलि व आहुति देने से बढ़ कर है।

१०—देखो, जो पुरुष हिंसा नहीं करता और मांस न खाने का व्रती है, सारा संसार हाथ जोड़कर उसका सम्मान करता है।

परिच्छेद २८

धूर्तता

वञ्चक के व्यवहार से, उसके भौतिक अंग ।
मन ही मन हँसते उसे, देख छली का ढंग ॥१॥

दिव्यदेह किस काम की, नर की भरी प्रभाव ।
जानमान जिसके हृदय, कपट-भरे यदि भाव ॥२॥

ऋषियों का जो वेश धर, बनता कातर दास ।
सिंह खाल को ओढ़ खर, चरता वह है घास ॥३॥

धर्मात्मा का रूप रख, जो नर करता पाप ।
झाड़ी भीतर व्याध सा, बैठा वह ले चाप ॥४॥

बाह्य प्रदर्शन के लिये, दम्भी के सब काम ।
रोता पर वह अन्त में, सोच बुरे निज काम ॥५॥

धूर्त नहीं है त्यागता, मनसे कोई पाप ।
पर निष्ठुर रचता बड़ा, त्यागाडम्बर आप ॥६॥

गुञ्जा यद्यपि रूपयुत, फिर भी दिखती श्याम ।
वैसे सुन्दर धूर्त भी, भीतर दिखता श्याम ॥७॥

शुद्ध हृदय जिनके नहीं, ऐसे लोग अनेक ।
पर तीर्थों में स्नान कर, फिरें बनें सविवेक ॥८॥

शर सीधा होता तथा, वक्र तँबूरा आर्य ।
इससे आकृति छोड़कर, नर के देखो कार्य ॥९॥

जिस बुध ने त्यागे अहो, लोकनिन्द्य सब काम ।
जटाजूट अथवा उसे, मुण्डन से क्या काम ॥१०॥

परिच्छेद २८

धूर्तता

१—स्वयं उसके ही शरीर के पंच तत्त्व मन ही मन उस पर हँसते हैं जबकि वे पाखण्डी के पाखण्ड और चालबाजी को देखते हैं।

२—वह प्रभावशाली मुखमुद्रा किस काम की, जबकि अंतःकरण में बुराई भरी है और हृदय इस बात को जानता है।

३—वह कापुरुष जो तपस्वी जैसी तेजस्वी आकृति बनाये रखता है उस गधे के समान है जो सिंह की खाल पहिने हुए घास चरता है।

४—उस आदमी को देखो, जो धर्मात्मा के वेश में छुपा रहता है और दुष्कर्म करता है। वह उस बहेलिये के समान है जो झाड़ी के पीछे छुपकर चिड़ियों को पकड़ता है।

५—दंभी आदमी दिखावे के लिए पवित्र बनता है और कहता है—मैंने अपनी इच्छाओं, इन्द्रियलालसाओं को जीत लिया है, परन्तु अन्त में वह पश्चात्ताप करेगा और रो रो कर कहेगा—मैंने क्या किया, हाय मैंने क्या किया ?

६—देखो, जो पुरुष वास्तव में अपने मन से तो किसी वस्तु को छोड़ता नहीं, परन्तु बाहर त्याग का आडम्बर रचता है और लोगों को ठगता है, उससे बढ़ कर कठोर हृदय कोई नहीं है।

७—गुमची देखने में सुन्दर होती है, परन्तु उसकी दूसरी ओर कालिमा होती है। कुछ आदमी भी उसी की तरह होते हैं। उनका बाहिरी रूप तो सुन्दर होता है, किन्तु अंतःकरण बिल्कुल कलुषित होता है।

८—ऐसे लोग बहुत हैं कि जिनका हृदय तो अशुद्ध होता है पर तीर्थों मे स्नान करते हुए घूमते फिरते हैं।

९—बाण सीधा होता है और तम्बूरे मे कुछ टेढ़ापन होता है इसलिए मनुष्यों को आकृति से नहीं, किन्तु उनके कामों से पहिचानो।

१०—जगत् जिससे घृणा करता है यदि तुम उससे बचे हुए हो तो फिर न तुम्हें जटा रखने की आवश्यकता है और न मुण्डन की।

परिच्छेद २९

निष्कपट व्यवहार

घृणित न देखा चाहते, निज को यदि तुम तात ।
कपट भरे कुविचार से, तो बच लो दिन-रात ॥१॥
द्रव्य पड़ोसी की सभी, ले लूँगा कर छद्म ।
मनका यह संकल्प ही, पापों का दृढ़ सद्म ॥२॥
जिस धन की हो आय में, कपटजाल का पाश ।
वृद्धिंगत चाहे दिखे, पर है अन्त विनाश ॥३॥
वैभव की भी वृद्धि में, ठगखोरी की चाट ।
ले जाती नर को वहीं, जहाँ विपद् की हाट ॥४॥
पर धन के हरणार्थ जो, करे प्रतीक्षा क्रूर ।
दया नहीं उसके हृदय, प्रेमकथा बहु दूर ॥५॥
छलकर भी पर द्रव्य को, बुझे न जिसकी प्यास ।
वस्तुमूल्य अनभिज्ञ वह, सुपथ न उसके पास ॥६॥
क्षणनश्वर ऐश्वर्य है, जिस मन में यह छाप ।
नहीं पड़ोसी को वही, छलकर लेगा पाप ॥७॥
शुद्ध सरलता ज्यों करे, आर्यहृदय में वास ।
चोर ठगों के चित्त में, त्यों ही कपट-निवास ॥८॥
कपट भिन्न जिस के नहीं, मन में उठें विचार ।
उस नर पर आती दया, देख पतन-विस्फार ॥९॥
छली पुरुष निज देह का, खोता है अधिकार ।
वारिस बनता स्वर्ग का, सीधा नर, साभार ॥१०॥

परिच्छेद २९

निष्कपट व्यवहार

१—जो यह चाहता है कि वह घृणित न समझा जावे तो उसे स्वयं कपटपूर्ण विचारों से अपने आपको बचाना चाहिए।

२—अपने मन में यह विचारना पाप है कि मैं अपने पड़ोसी की सम्पत्ति को कपट द्वारा ले लूँगा।

३—वह वैभव जो कपट द्वारा प्राप्त किया जाता है भले ही बढ़ती की ओर दिखाई देता हो, परन्तु अन्त में नष्ट होने को ही है।

४—अपहरण की प्यास अपने उन्नतिकाल में भी अनन्त दुःखों की ओर ले जाती है।

५—जो मनुष्य दूसरों की सम्पत्ति को लोभभरी दृष्टि से देखता है और उसको हड़पने की प्रतीक्षा में बैठा रहता है उसके हृदय में दया को कोई स्थान नहीं और प्रेम तो उससे कोसों दूर है।

६—लूट के पश्चात् भी जिस मनुष्य को लोभ की प्यास बनी रहती है वह वस्तुओं का उचित मूल्य नहीं समझ सकता और न वह सत्यमार्ग का पथिक ही बन सकता है।

७ वह मनुष्य धन्य है जिसने सांसारिक वस्तुओं के सार को समझ कर अपने हृदय को दृढ़ बना लिया है। वह फिर अपने पड़ोसी को धोखा देने की गलती कभी नहीं करेगा।

८—जिस प्रकार तत्त्वज्ञानी साधु सन्तों के हृदय में सत्यता निवास करती है उसी प्रकार चोर ठगों के मन में कपट का वास नियम से होता है।

९—उस मनुष्य पर तरस आती है जो छल तथा कपट के अतिरिक्त और किसी बात पर विचार ही नहीं करता, वह सत्यमार्ग को छोड़ देगा और नाश को प्राप्त होगा।

१०—जो दूसरों को छलता है वह स्वयं अपने शरीर का भी स्वामी नहीं रहने पाता, परन्तु जो सच्चे हैं उनको स्वर्ग का नित्य उत्तराधिकार रहता है।

परिच्छेद ३०

सत्यता

नहीं किसी ही जीव को, जिससे पीड़ा-कार्य ।
सत्य वचन उसको कहें, पूज्य ऋषीश्वर आर्य ॥१॥

दुःखित जन का क्लेश से, करने को उद्धार ।
मृषा वचन भी सन्त के, होते सत्य अपार ॥२॥

निज मन ही यदि जानता जिसे असत्य प्रलाप ।
ऐसी वाणी बोलकर, मत लो मन संताप ॥३॥

सत्यव्रत के योग से, जिसका चित्त विशुद्ध ।
करता है वह विश्व के, मन पर शासन शुद्ध ॥४॥

शाश्वत सुखमय सत्य ही, जिसको मन से मान्य ।
ऋषियों से वह है बड़ा, दानी से अधिमान्य ॥५॥

'मिथ्यावादी' यह नहीं, जिसकी ऐसी कीर्ति ।
विना क्लेश उसको मिलें, ऋद्धि-सिद्धि वरप्रीति ॥६॥

मत कह मत कह झूठ को, मिथ्या कथन अधर्म ।
सत्य वचन यदि पास तो, वृथा अन्य सब धर्म ॥७॥

जैसे निर्मल नीर से, होती देह विशुद्ध ।
त्यों ही नर का चित्त भी, होता सत्य विशुद्ध ॥८॥

अन्य ज्योति को ज्योति ही, प्राज्ञ न माने ज्योति ।
सत्यप्रकाशक ज्योति को, कहते सच्ची ज्योति ॥९॥

देखी मैंने लोक में, जो जो वस्तु अनेक ।
उनमें पाया सत्य ही, परमोत्तम बस एक ॥१०॥

परिच्छेद ३०

सत्यता

१—सचाई क्या है ? जिससे दूसरों को कुछ भी हानि न पहुँचे उस बात का बोलना ही सचाई है।

२—उस झूठ में भी सत्यता की विशेषता है जिसके परिणाम में नियम से भलाई ही होती हो।

३—जिस बात को तुम्हारा मन जानता है कि वह झूठ है, उसे कभी मत बोलो, क्योंकि झूठ बोलने से स्वयं तुम्हारी अन्तरात्मा ही तुम्हें जलायेगी।

४—देखो, जिस मनुष्य का मन असत्य से अपवित्र नहीं है, वह सबके हृदय पर शासन करेगा।

५—जिसका मन सत्यशीलता में निमग्न है वह पुरुष तपस्वी से भी महान् और दानी से भी श्रेष्ठ है।

६—मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर सुयश और कोई नहीं है कि लोगों में उसकी प्रसिद्धि हो कि वह झूठ बोलना जानता ही नहीं। ऐसा पुरुष अपने शरीर को कष्ट दिये बिना ही सब तरह की सिद्धियों को पा जाता है।

७—"असत्यभाषण मत करो" यदि मनुष्य इस आदेश का पालन कर सके तो उसे दूसरे धर्मों के पालन करने की आवश्यकता नहीं है।

८—शरीर की स्वच्छता का सम्बन्ध तो जल से है, परन्तु मन की पवित्रता सत्यभाषण से सिद्ध होती है।

९—योग्य पुरुष और सब प्रकार के प्रकाशों को प्रकाश ही नहीं मानते, केवल सत्य की ज्योति को ही वे सच्चा प्रकाश मानते हैं।

१०—मैंने इस संसार में बहुत सी वस्तुएँ देखी हैं, परन्तु उनमें सत्य से बढ़ कर उच्च और कोई वस्तु नहीं है।

परिच्छेद ३१

क्रोध-त्याग

क्रोधत्याग तब ही भला, जब हो निग्रह-शक्ति ।
कारण क्षमता के विना, निष्फल राग-विरक्ति ॥१॥
यदि है निग्रहशक्ति तो, कोप, घृणामय व्यर्थ ।
और नहीं वह शक्ति तो, कोप किये क्या अर्थ ॥२॥
हानिविधायक कोई हो, तो भी तजदो रोष ।
कारण करता सैकड़ों, अति अनर्थ यह दोष ॥३॥
क्रोधतुल्य रिपु कौन जो, करदे सर्व-विनाश ।
हर्ष तथा आनन्द को, वह है यम का पाश ॥४॥
निज शुभ की यदि कामना, कोप करो तो दूर ।
टूटेगा वह अन्यथा, कर देगा सब धूर ॥५॥
जलता वह ही आग में, जो हो उसके पास ।
क्रोधी का पर वंश भी, जलता विना प्रयास ॥६॥
निधिसम मनमें कोप जो, रक्षित रखता आप ।
भू में कर वह मारकर, पागल करे विलाप ॥७॥
बड़ी हानि को प्राप्त कर, वलता हो यदि कोप ।
तो भी उत्तम है यही, करो कोप का लोप ॥८॥
इच्छाएँ उसकी सभी, फलें सदा भरपूर ।
जिसने अपने चित्त से, कोप किया अति दूर ॥९॥
वह क्रोधी मृततुल्य है, जिसे न निज का भान ।
पर त्यागी उस क्रोध का, होता सन्त समान ॥१०॥

परिच्छेद ३१

क्रोध-त्याग

१—जिसमें चोट पहुँचाने की शक्ति है उसी में सहनशीलता का होना समझा जा सकता है। जिसमें शक्ति ही नहीं है वह क्षमा करे या न करे, उससे किसी का क्या बनता विगड़ता है ?

२—यदि तुम में प्रहार करने की शक्ति न भी हो तब भी क्रोध करना बुरा है और यदि तुम में शक्ति हो तब तो क्रोध से बढ़कर बुरा काम और कोई नहीं है।

३—तुम्हारा अपराधी कोई भी हो, पर उसके ऊपर कोप न करो, क्योंकि क्रोध से सैकड़ों अनर्थ पैदा होते हैं।

४—क्रोध हर्ष को जला देता है और उल्लास को नष्ट कर देता है। क्या क्रोध से बढ़कर मनुष्य का और भी कोई भयानक शत्रु है ?

५—यदि तुम अपना भला चाहते हो तो रोष से दूर रहो, क्योंकि दूर न रहोगे तो वह तुम्हें आ दबोचेगा और तुम्हारा सर्वनाश कर डालेगा।

६—अग्नि उसी को जलाती है जो उसके पास जाता है, परन्तु क्रोधाग्नि सारे कुटुम्ब को जला डालती है।

७—जो क्रोध को इस प्रकार हृदय में रखता है मानो वह बहुमूल्य पदार्थ हो वह उस मनुष्य के समान है जो जोर से पृथ्वी पर हाथ दे मारता है उस आदमी के हाथों में चोट लगे बिना नहीं रह सकती, ऐसे क्रोधी पुरुष का सर्वनाश अवश्यम्भावी है।

८—जो तुम्हें हानि पहुँची है वह भले ही तुम्हें प्रचण्ड अग्नि के समान जला रही हो तब भी यही अच्छा है कि तुम क्रोध से दूर रहो।

९—मनुष्य की समस्त कामनाएँ तुरन्त ही पूर्ण हो जाया करें यदि अपने मन से क्रोध को दूर कर दे।

१०—जो क्रोध के मारे आपे से बाहर है वह मृतक के समान है, पर जिसने कोप करना त्याग दिया है वह सन्तों के समान है।

परिच्छेद ३२

उपद्रव-त्याग

चाहे मिले कुवेरनिधि, फिर भी शुद्ध महान ।
नहीं किसी को त्रास दें, सज्जन दयानिधान ॥१॥
उच्च जनों को द्वेपवश, यदि दे कष्ट निकृष्ट ।
वैरशुद्धि उनको नहीं, करती पर आकृष्ट ॥२॥
जब अहेतु दुःखद मुझे तब "मैं त्रास अपार-
दूंगा" यह संकल्प ही, बनता दुःख अगार ॥३॥
अरि का भी उपकार कर, दे दो लज्जा-मार ।
दुष्टदण्ड के हेतु यह, सब से श्रेष्ठ प्रकार ॥४॥
कष्ट न जाने अन्य का, जो नर आप समान ।
महाबुद्धि उसकी अहो, तब है व्यर्थ समान ॥५॥
भोगे मैंने दुःख जो, होकर अति हैरान ।
परको वे दूँगा नहीं, रखे मनुज यह ध्यान ॥६॥
जानभान जो अन्य को, नहीं स्वल्प भी कष्ट-
देता, उस सम कौन है, भूतल में उत्कृष्ट ॥७॥
जिन दुःखों में आप ही, नर है हुआ अधीर ।
वे फिर कैसे अन्य को, देगा बन बे-पीर ॥८॥
यदि देते पूर्वाह्न में निकटगृही को खेद ।
तो भोगो अपराह्न में, तुम भी सुखविच्छेद ॥९॥
दुष्कर्मी के शीष पर, सदा विपद का पूर ।
जो चाहें निज त्राण वे, रहते उनसे दूर ॥१०॥

परिच्छेद ३२

उपद्रव-त्याग

१—शुद्धांत.करण वाला मनुष्य कुवेर की सम्पत्ति मिले तो भी किसी को त्रास देने वाला नहीं वनेगा।

२—द्वेषवुद्धि से प्रेरित होकर यदि कोई दूसरा आदमी उसे कष्ट देवे तो भी पवित्रहृदय का व्यक्ति उसे उसका वदला नहीं देता।

३—यदि विना किसी छेड़खानी के तुम्हें किसी ने कोई कष्ट दिया है और बदले में तुम भी उसे वैसा ही कष्ट दोगे तो अपने ऊपर ऐसे घोर संकटों को खींच लोगे जिनका फिर कोई उपचार नहीं।

४—दुख देने वाले व्यक्ति को शिक्षा अर्थात् दण्ड देने का यह ही एक उत्तम उपाय है कि तुम उसके वदले में भलाई करो, जिससे वह मन ही मन लज्जा के मारे मर जावे, यह ही उससे बड़ी गहरी मार है।

५—दूसरे प्राणियों के दुःख को जो अपने दुःख समान ही नहीं समझता और इसीलिए वह दूसरों को कष्ट देने से विमुख नहीं होता, ऐसे मनुष्य की वुद्धिमत्ता का क्या उपयोग ?

६—स्वयं एक वार दुखों को भोग कर मनुष्य को फिर वैसे कष्ट दूसरों को न देने का ध्यान रखना चाहिए।

७—यदि तुम जानवूझकर किसी प्राणी को थोड़ा सा भी दुःख नहीं देते हो, तो यह वड़ी श्लाघा की वात है।

८—स्वयं कष्ट आपड़ने पर कैसी वेदना होती है, ऐसा जिसको अनुभव है वह दूसरे को दुःख देने के लिए कैसे उतारू होगा ?

९—यदि कोई मनुष्य अपने किसी पड़ोसी को दोपहर को दुःख देता है तो उसी दिन तीसरे पहर ही उसके ऊपर विपत्तियां अपने आप आ टूटेंगी।

१०—दुष्कर्म करने वालों के शिर के ऊपर विपत्तियाँ सदैव आया ही करती हैं, इसलिए जो मनुष्य दुःखदाई अनिष्टों से वचना चाहते हैं वे आप ही दुष्कृत्यों से सदैव अलग रहते हैं।

परिच्छेद ३४

संसार की अनित्यता

इससे बढ़कर मोह क्या, अथवा ही अज्ञान ।
नश्वर को ध्रुव मानना, और न निज पहिचान ॥१॥
श्री का आना, खेल में जुड़ती जैसी भीड़ ।
श्री का जाना, खेल से हटती जैसी भीड़ ॥२॥
ऋद्धि मिली तो शीघ्र ही, करलो कुछ शुभ कार्य ।
कारण टिकती है नहीं, अधिक समय यह आर्य ॥३॥
यद्यपि दिखता काल है, सरल तथा निर्दोष ।
पर आरे सम काटता, सब का जीवनकोष ॥४॥
शुभ कार्यों को प्राज्ञजन, करो लगे ही हाथ ।
क्या जाने जिह्वा रुके, कब हिचकी के साथ ॥५॥
कल ही था इस लोक में, एक मनुज विख्यात ।
आज न चर्चा है कहीं, कैसी अद्भुत बात ॥६॥
जीवित रहता या नहीं, पल भर भी सन्देह ।
कोटि कोटि संकल्प का, फिर भी यह मन गेह ॥७॥
खग लगते ही पंख के, उड़ता अण्डा फोड़ ।
उस सम देही कर्मवश, जाता काया छोड़ ॥८॥
निद्रासम ही मृत्यु है, जीना जगना एक ।
निर्णय ऐसा प्राज्ञवर, करते हैं सविवेक ॥९॥
लोगो ! क्या इस जीव का, निजगृह नहीं विशेष ।
जिससे निन्दित देह में, सहता दुःख अशेष ॥१०॥

परिच्छेद ३४

संसार की अनित्यता

१—उस मोह से बढ़ कर मूर्खता की बात और कोई नहीं है कि जिसके कारण अस्थायी पदार्थों को मनुष्य स्थिर और नित्य समझ बैठता है।

२—धनोपार्जन करना खेल देखने के लिए आयी हुई भीड़ के सदृश है और धन का क्षय उस भीड़ के तितर-बितर हो जाने के समान है।

३—समृद्धि क्षणस्थायी है। यदि तुम समृद्धिशाली हो गये हो तो ऐसे काम करने मे देर न करो जिनसे स्थायी लाभ पहुँच सकता है।

४—समय देखने में भोला भाला और निर्दोष मालूम होता है, परन्तु वास्तव में वह एक आरा है जो मनुष्य के जीवन को बराबर काट रहा है।

५—पवित्र काम करने में शीघ्रता करो, ऐसा न हो कि बोली बन्द हो जाय और हिचकियां आने लगें।

६—कल तो एक आदमी विद्यमान था और आज वह नहीं है, संसार में यही बड़े अचरज की बात है।

७—मनुष्य को इस बात का तो पता नहीं कि पल भर के पश्चात् वह जीवित रहेगा या नहीं, पर उसके विचारों को देखो तो वे करोड़ों की संख्या में चल रहे हैं।

८—पंख निकलते ही चिड़िया का बच्चा फूटे हुए अण्डे को छोड़ कर उड़ जाता है। शरीर और आत्मा की पारस्परिक मित्रता का यही दृष्टान्त है।

९—मृत्यु नींद के समान है और जीवन उस निद्रा से जागने के तुल्य है।

१०—क्या आत्मा का अपना कोई निज घर नहीं है, जो वह इस निकृष्ट शरीर में आश्रय लेता है?

परिच्छेद ३५

त्याग

प्रण लेकर जिस वस्तु का, कर देता नर त्याग ।
मानो उसके दुःख से, बचता वह बेलाग ॥१॥

आकर है सुखरत्न का, सागर जैसा त्याग ।
चिर सुख की यदि कामना, करो सदा तो त्याग ॥२॥

जीतो पाँचों इन्द्रियाँ, जिनमें भरा विकार ।
प्रिय से छोड़ो मोह फिर, त्याग यही क्रमवार ॥३॥

सर्वपरिग्रह-त्याग ही, आर्षव्रतों में सार ।
तजकर लेना एक भी, बन्धन का ही द्वार ॥४॥

जब मुमुक्षु की दृष्टि में निज-तनु भी है हेय ।
तब उस को क्यों चाहिए, बन्धन भरे विधेय ॥५॥

'मेरा' 'मैं' के भाव तो, स्वार्थ-गर्व के थोक ।
जाता त्यागी है वहाँ, स्वर्गोपरि जो लोक ॥६॥

प्रिय संयम जिस को नहीं, फँसकर तृष्णाजाल ।
मुक्त न होगा दुःख से, घिरा रहे बेहाल ॥७॥

मुक्तिपथिक वह एक जो, विषयविरक्त अतीव ।
अन्य सभी तो मोह में, फँसे जगत के जीव ॥८॥

लोभ-मोह को जीतते, पुनर्जन्म ही बन्द ।
फँसते वे भ्रमजाल में, कटें न जिनके फन्द ॥९॥

शरण गहो उस ईश का, जिसने जीता मोह ।
आश्रय लो उस देव का, जिससे कटता मोह ॥१०॥

परिच्छेद ३५

त्याग

१—मनुष्य ने जो वस्तु छोड़ दी है, उससे पैदा होने वाले दुःख से उसने अपने को मुक्त कर लिया है।

२—त्याग से अनेकों प्रकार के सुख उत्पन्न होते हैं, इसलिए यदि तुम उन्हें अधिक समय तक भोगना चाहते हो तो शीघ्र त्याग करो।

३—अपनी पांचों इन्द्रियों का दमन करो और जिन पदार्थों से तुम्हें सुख मिलता है उन्हें बिल्कुल ही त्याग दो।

४—अपने पास कुछ भी न रखना यही व्रतधारी का नियम है। एक वस्तु को भी अपने पास रखना मानों उन बन्धनों में फिर आ फँसना है जिन्हें मनुष्य एक बार छोड़ चुका है।

५—जो लोग पुनर्जन्म के चक्र को बन्द करना चाहते हैं, उनके लिए यह शरीर भी अनावश्यक है। फिर भला अन्य बन्धन कितने अनावश्यक न होंगे ?

६—'मैं' और 'मेरा' के जो भाव हैं, वे घमण्ड और स्वार्थपूर्णता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जो मनुष्य उनका दमन कर लेता है वह देवलोक से भी उच्च लोक को प्राप्त होता है।

७—देखो, जो मनुष्य लालच में फँसा हुआ है और उससे निकलना नहीं चाहता, उसे दुःख आकर घेर लेगा और फिर मुक्त न होगा।

८—जिन लोगों ने सब कुछ त्याग दिया है, वे मुक्ति के मार्ग में हैं, परन्तु अन्य सब मोहजाल में फँसे हुए हैं।

९—ज्यों ही लोभ-मोह दूर हो जाते हैं त्यों ही उसी क्षण पुनर्जन्म बन्द हो जाता है। जो मनुष्य इन बन्धनों को नहीं काटते वे भ्रमजाल में फँसे रहते हैं।

१०—उस ईश्वर की शरण में जाओ जिसने सब मोहों को छिन्न भिन्न कर दिया है और उसी का आश्रय लो जिससे सब बन्धन टूट जायें।

परिच्छेद ३६

सत्य का अनुभव

क्षण भंगुर संसार में, कोई वस्तु न सत्य ।
दुःखित जीवन भोगते, वे जो समझें सत्य ॥१

भ्रान्ति-भाव से मुक्ति हो, जो नर निर्मल दृष्टि ।
दुःखतिमिर उसका हटे, और मिले सुख-सृष्टि ॥२

जिसने छोड़ असत्य को, पाया सत्य प्रदीप ।
पृथ्वी से भी स्वर्ग है, उसको अधिक समीप ॥३

कभी न चाखा सत्य यदि, जो है शाश्वत अर्थ ।
मनुजयोनि में जन्म भी, लेना तब है व्यर्थ ॥४

इसमें इतना सत्य है, शेष मृषाव्यवहार ।
ऐसा निर्णय वस्तु का, करती मेधासार ॥५।

धन्य पुरुष, स्वाध्याय से, जिसके सत्य विचार ।
शिव-पथ के उस पान्थ को, मिले न फिर संसार ॥६।

ध्यानाधिक से प्राप्त हो, जिसको सत्य अपार ।
भावी जन्मों के लिए, उसे न सोच विचार ॥७।

शुद्ध ब्रह्ममय आप हो, करे अविद्या दूर ।
जो जननी भव रोग की, वही बुद्धि गुण पूर ॥८।

शिव साधन का विज्ञ जो, मोह विजय संलग्न ।
उसके भावी दुःख सब बिना यत्न ही भग्न ॥९।

काम क्रोधयुत मोह भी, ज्यों ज्यों होगा क्षीण ।
त्यों अनुगामी दुःख भी, होते अधिक विलीन ॥१०।

परिच्छेद ३६

सत्य का अनुभव

१—मिथ्या और अनित्य पदार्थों को सत्य समझने के भ्रम से ही मनुष्य को दु:खमय जीवन भोगना पड़ता है।

२—जो मनुष्य भ्रमात्मक भावों से मुक्त है और जिसकी दृष्टि निर्मल है उसके लिए दु:ख और अन्धकार का अन्त हो जाता है तथा आनन्द उसे प्राप्त होता है।

३—जिसने अनिश्चित बातों से अपने को मुक्त कर लिया है और सत्य अर्थात् आत्मा को पा लिया है, उसके लिए स्वर्ग पृथ्वी से भी अधिक समीप है।

४—मनुष्य जैसी उच्च योनि को प्राप्त कर लेने से भी कोई लाभ नहीं, यदि आत्मा ने सत्य का आस्वादन नहीं किया।

५—कोई भी बात हो, उसमें सत्य को झूठ से पृथक् कर देना ही मेधा का कर्तव्य है।

६—वह पुरुष धन्य है जिसने गम्भीरता पूर्वक स्वाध्याय किया है और सत्य को पा लिया है। वह ऐसे मार्ग से चलेगा जिससे उसे इस संसार में न आना पड़ेगा।

७—निस्सन्देह जिन लोगों ने ध्यान और धारणा के द्वारा सत्य को पा लिया है उन्हें आगे होने वाले भवों का विचार करने की आवश्यकता नहीं।

८—जन्मों की जननी-अविद्या से छुटकारा पाना और सच्चिदानन्द को प्राप्त करने की चेष्टा करना ही बुद्धिमानी है।

९—देखो, जो पुरुष मुक्ति के साधनों को जानता है और सब मोहों को जीतने का प्रयत्न करता है, भविष्य में आने वाले सब दु:ख उससे दूर हो जाते हैं।

१०—काम, क्रोध और मोह ज्यों ज्यों मनुष्य को छोड़ते जाते हैं, दु:ख भी उनका अनुसरण करके धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं।

परिच्छेद ३८

भवितव्यता

दृढ़प्रतिज्ञ होता मनुज, पाकर उत्तम भाग्य ।
वही पुरुष होता शिथिल, जब आवे दुर्भाग्य ॥१॥
घटे मनुज की शक्ति भी, जब आवे दुर्भाग्य ।
प्रतिभा जागृत हो उठे, जब जागे सद्भाव ॥२॥
ज्ञान तथा चातुर्य से, क्या हो लाभ महान ।
कारण अन्तरब्रह्म ही, सर्वोपरि बलवान ॥३॥
भिन्न सर्वथा एक से, दो ही जग में वस्तु ।
एक वस्तु ऐश्वर्य है, साधुशील परवस्तु ॥४॥
शुभ भी बनता अशुभ है, जब हो उलटा भाग्य ।
और अशुभ भी शुभ बने, जब हो सीधा भाग्य ॥५॥
बचे नहीं वह यत्न से जिसे न चाहे दैव ।
फेंकी वस्तु न नष्ट हो, जब हो रक्षक दैव ॥६॥
ऊँचे शासक दैव का, जो न मिले कुछ योग ।
तो कौड़ी भी कोटिपति, कर न सके उपभोग ॥७॥
निर्धन भी करते कभी, त्यागी जैसे भाव ।
दैव दुःख भोगार्थ पर, देता उन्हें दबाव ॥८॥
सुख में जो है फूलता, होकर हर्षितचित्त ।
दुःख समय वह शोक में, क्यों हो दुःखितचित्त ॥९॥
दैव बड़ा बलवान है, कारण उससे ग्रस्त ।
करता जय का यत्न जब, तब ही होता पस्त ॥१०॥

परिच्छेद ३८

भवितव्यता

१—मनुष्य दृढ़प्रतिज्ञ हो जाता है जब भाग्यलक्ष्मी उस पर प्रसन्न होकर कृपा करना चाहती है, परन्तु मनुष्य में शिथिलता आ जाती है जब भाग्यलक्ष्मी उसे छोड़ने को होती है।

२—दुर्भाग्य शक्ति को मन्द कर देता है, परन्तु जब भाग्यलक्ष्मी कृपा दिखाना चाहती हो तो पहिले बुद्धि में विस्फूर्ति कर देती है।

३—ज्ञान और सब प्रकार की चतुराई से क्या लाभ ? जब कि भीतर जो आत्मा है उसका ही प्रभाव सर्वोपरि है।

४—जगत् में दो वस्तुएँ हैं, जो एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलतीं। धन सम्पत्ति एक वस्तु है और साधुता तथा पवित्रता दूसरी वस्तु।

५—जब किसी का भाग्य फिर जाता है तो भलाई भी बुराई में बदल जाती है, पर जब दैव अनुकूल होता है तो बुरे भी अच्छे हो जाते हैं।

६—भवितव्यता जिस बात को नहीं चाहती, उसे तुम अत्यन्त चेष्टा करने पर भी नहीं रख सकते, और जो वस्तुएँ तुम्हारी हैं, तुम्हारे भाग्य में बदी हैं उन्हें तुम इधर उधर फेंक भी दो, फिर भी वे तुम्हारे पास से नहीं जावेंगी।

७—उस महान् शासक (दैव) के बिना करोड़पति भी अपनी सम्पत्ति का किंचित् भी उपभोग नहीं कर सकता।

८—गरीब लोग निस्सन्देह अपने मन को त्याग की ओर झुकाना चाहते हैं, किन्तु भवितव्यता उन्हें उन दुःखों के लिए रख छोड़ती है जो उन्हें भोगने हैं।

९—अपना भला देख कर जो मनुष्य प्रसन्न होता है उसे आपत्ति आने पर क्यों दुखी होना चाहिए ?

१०—होनी से बढ़ कर बलवान् और कौन है ? क्योंकि जब ही मनुष्य उसके फन्दे से छूटने का यत्न करता है तब ही वह आगे बढ़ कर उसको पछाड़ देती है।

परिच्छेद ३९

राजा

राष्ट्र, दुर्ग, मंत्री, सखा, धन, सैनिक नरसिंह ।
ये छै जिसके पास हैं, भूपों में वह सिंह ॥१॥

साहस, बुद्धि, उदारता, कार्यशक्ति आधार ।
आवश्यक ये सर्वथा, भूपति में गुण चार ॥२॥

शासक में ये जन्म से, होते अतिशय तीन ।
छानबीन, विद्याविपुल, निर्णयशक्ति प्रवीन ॥३॥

कभी न चूके धर्म से, पापों को अरि रूप ।
हठ से रक्षक मान का, वीर वही सच भूप ॥४॥

शासन के प्रति अंग में, कैसे हो विस्फूर्ति ।
और वृद्धि निज कोष की, क्योंकर होगी पूर्ति ॥
धन का कैसा आय व्यय, क्या रक्षा कर्तव्य ।
निजहितकांक्षी भूप को, ये सब हैं ज्ञातव्य ॥५॥ (युग्म)

जिस भूपति के पास में, पहुँच सके सब राज्य ।
परुष वचन जिसके नहीं, उसका उन्नत राज्य ॥६॥

जिसका शासन प्रेममय, तथा उचित प्रियदान ।
उस नृप की शुभ कीर्ति का, भूभर में सम्मान ॥७॥

न्याय करे निष्पक्ष हो, पालन की रख टेव ।
ऐसा भूपति धन्य है, पृथ्वी में वह देव ॥८॥

कर्णकटुक भी शब्द जो, सुन सकता भूपाल ।
छत्रतले वसुधा बसे, उस नृप के सब काल ॥९॥

जो नृप न्याय, उदारता, सेवा, करुणाज्योति ।
भूपों में उस भूप की, सब से उज्ज्वल ज्योति ॥१०॥

परिच्छेद ३९

राजा

१—जिसके सेना, लोकसंख्या, धन, मंत्रिमण्डल, सहायकमित्र, और दुर्ग ये छै यथेष्ट रूप में हैं, वह नृपमण्डल में सिंह है।

२—राजा में साहस, उदारता, बुद्धिमानी और कार्यशक्ति, इन बातों का कभी अभाव नहीं होना चाहिए।

३—जो पुरुष इस पृथ्वी पर शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं उन्हें चौकसी, जानकारी और निश्चयबुद्धि, ये तीनों खूबियाँ कभी नहीं छोड़तीं।

४—राजा को धर्म करने में कभी न चूकना चाहिए और अधर्म को सदा दूर करना चाहिए। उसे स्पर्धापूर्वक अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु वीरता के नियमों के विरुद्ध दुराचार कभी न करना चाहिए।

५—राजा को इस बात का ज्ञान रखना चाहिए कि अपने राज्य के साधनों की विस्फूर्ति और वृद्धि किस प्रकार की जाय और खजाने की पूर्ति किस प्रकार हो, धन की रक्षा किस रीति से की जावे और किस प्रकार समुचित रूप से उसका व्यय किया जावे।

६—यदि समस्त प्रजा की पहुँच राजा तक हो और राजा कभी कठोर वचन न बोले तो उसका राज्य सबसे ऊपर रहेगा।

७—जो राजा प्रीति के साथ दान दे सकता है और प्रेम के साथ शासन करता है उसका यश जगत भर में फैल जायगा।

८—धन्य है वह राजा, जो निष्पक्ष होकर न्याय करता है और अपनी प्रजा की रक्षा करता है। वह मनुष्यों में देवता समझा जायगा।

९—देखो, जिस राजा मे कानों को अप्रिय लगने वाले वचनों को सहन करने का गुण है, पृथ्वी निरन्तर उसकी छत्रछाया में रहेगी।

१०—जो राजा उदार, दयालु तथा न्यायनिष्ठ है और जो अपनी प्रजा की प्रेमपूर्वक सेवा करता है, वह राजाओं के मध्य मे ज्योतिस्वरूप है।

परिच्छेद ४०

शिक्षा

जो कुछ शिक्षा योग्य है, वह सब सीखो तात ।
शिक्षण के पश्चात् ही, चलो उसी विध भ्रात ॥१॥
जीवित, मानव जाति के, दो ही नेत्र विशेष ।
अक्षर कहते एक को, संख्या दूजा शेष ॥२॥
चक्षु सहित वह एक ही, जिसमें ज्ञान पवित्र ।
गड्ढे केवल अन्य के, मुख पर बने विचित्र ॥३॥
प्राज्ञपुरुष आते समय, देते हर्ष महान ।
पर वे ही जाते समय, कर देते मन म्लान ॥४॥
भिक्षुक सम यदि भर्त्सना, करते हों गुरुदेव ।
फिर भी सीखो अन्यथा, तजना अधम कुटेव ॥५॥
खोदो जितना स्रोत को, उतना मिलता नीर ।
सीखो जितना ही अधिक, उतनी मति गम्भीर ॥६॥
शिक्षित को सारी मही, घर है और स्वदेश ।
फिर क्यों चूके जन्म भर, लेने में उपदेश ॥७॥
जो कुछ सीखा जीव ने, एक जन्म में ज्ञान ।
उससे अग्रिम जन्म भी, होते उच्च महान ॥८॥
मुझ सम ही यह अन्य को, देता मनमें मोद ।
इससे ही बुध चाव से, करते ज्ञान-विनोद ॥९॥
विद्या ही नर के लिए, अविनाशी त्रुटिहीन ।
निधि है, जिससे अन्य धन, होते शोभाहीन ॥१०॥

परिच्छेद ४०

शिक्षा

१—प्राप्त करने योग्य जो ज्ञान है, उसे सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करना चाहिए और प्राप्त करने के पश्चात् तदनुसार व्यवहार करना चाहिए।

२—मानव जाति की जीती जागती दो आँखें हैं, एक को अंक कहते हैं और दूसरे को अक्षर।

३—शिक्षित लोग ही आँख वाले कहलाये जा सकते हैं, अशिक्षितों के शिर में केवल दो गड्ढे होते हैं।

४—विद्वान् जहाँ कहीं भी जाता है अपने साथ आनन्द ले जाता है, लेकिन जब वह विदा होता है तो पीछे दु:ख छोड़ जाता है।

५—यद्यपि तुम्हें गुरु या शिक्षक के सामने उतना ही अपमानित और नीचा बनना पड़े जितना कि एक भिक्षुक को धनवान् के समक्ष बनना पड़ता है, फिर भी तुम विद्या सीखो। मनुष्यों में अधम वे ही लोग हैं जो विद्या सीखने से विमुख होते हैं।

६—स्रोते को तुम जितना ही खोदोगे उतना ही अधिक पानी निकलेगा। ठीक इसी प्रकार तुम जितना ही अधिक सीखोगे उतनी ही तुम्हारी विद्या में वृद्धि होगी।

७—विद्वान् के लिए सभी जगह उसका घर है और सभी जगह उसका स्वदेश है। फिर लोग मरने के दिन तक विद्या प्राप्त करते रहने में असावधानी क्यों करते हैं?

८—मनुष्य ने एक जन्म में जो विद्या प्राप्त कर ली है वह उसे समस्त आगामी जन्मों में भी उच्च और उन्नत बना देगी।

९—विद्वान् देखता है कि जो विद्या उसे आनन्द देती है वह संसार को भी आनन्दप्रद होती है और इसीलिए वह विद्या को और भी अधिक चाहता है।

१०—विद्या मनुष्य के लिए त्रुटिहीन एक अविनाशी निधि है, उसके सामने दूसरी सम्पत्ति कुछ भी नहीं है।

परिच्छेद ४१

शिक्षा की उपेक्षा

जो पूरी शिक्षा विना, भाषण दे चढ़ मञ्च ।
पट विन चौपड़ खेल का, मानो रचे प्रपञ्च ॥१॥

वक्ता की त्यों कीर्ति को, चाहे विद्याक्षीण ।
युवकाकर्षणरागिणी, ज्यों नारी कुचहीन ॥२॥

विवुधों में यदि धैर्य धर, रहे मूर्ख चुपचाप ।
तो उसको भी यह जगत, गिनता वुध ही आप ॥३॥

भले अशिक्षित दक्ष हो, करने में सव कार्य ।
फिर भी उसकी राय का, मूल्य न आँकें आर्य ॥४॥

जो समझे वुध आप को, विद्या से मन खींच ।
खुलकर लज्जित हो वही, वोल सभा के वीच ॥५॥

एक अशिक्षित की दशा, ऊपर भूमि समान ।
जीवित वह इसके सिवा, कह न सकें जन आन ॥६॥

प्राज्ञों की धनहीनता, मन को नहीं सुहात ।
मूर्खविभव उससे अधिक, अप्रिय लगता भ्रात ॥७॥

सूक्ष्म तत्त्व जिसके नहीं, बनते प्रतिभागेह ।
सजी धजी मृण्मूर्ति सम, उसकी सुन्दर देह ॥८॥

विद्या विना कुलीन भी, लघु ही होता भान ।
और सुशिक्षित निम्न भी, लगता गौरववान ॥९॥

पशुओं से जितना अधिक, उत्तम नर है तात ।
वस उतना ही मूर्ख से, शिक्षित वर विख्यात ॥१०॥

परिच्छेद ४१

शिक्षा की उपेक्षा

१ - विना पर्याप्तज्ञान के सभा-मञ्चपर जाना वैसा ही है जैसा कि विना चौपड़ के पाँसे खेलना।

२—उस अनपढ़ व्यक्ति को देखो, जो प्रभावशाली वक्ता बनने की वांछा कर रहा है। उसकी वांछा वैसी ही है जैसी कि विना उरोजवाली स्त्री का पुरुषों को आकर्षित करने की इच्छा करना।

३—विद्वानों के सामने यदि अपने को मौन बनाये रख सके तो मूर्ख आदमी भी बुद्धिमान् गिना जायगा।

४—अनपढ़ व्यक्ति चाहे जितना बुद्धिमान् हो, विज्ञजन उसकी सलाह को कोई महत्व न देंगे।

५—उस व्यक्ति को देखो जिसने शिक्षा की अवहेलना की है और जो अपने ही मन मे बड़ा बुद्धिमान् है सभा गोष्ठी में वह अपना भाषण देते ही लज्जित हो जाएगा।

६—अनपढ़ व्यक्ति की दशा उस ऊपर भूमि के समान है जो खेती के लिए अयोग्य है। लोग उसके बारे मे केवल यही कह सकते हैं कि वह जीवित है; अधिक कुछ नहीं।

७—विद्वान् का दरिद्र होना निस्सन्देह बहुत बुरा है, किन्तु मूर्ख के अधिकार में सम्पत्ति का होना तो और भी बुरा है।

८—सूक्ष्म तथा शुभ तत्त्वों में जिसकी बुद्धि का प्रवेश नहीं, उसकी सुन्दर देह अलंकृत एक मिट्टी की मूर्ति के सिवाय और कुछ नहीं है।

९—उच्च कुल में जन्म लेने वाले मूर्ख का उतना आदर नहीं होता जितना निम्नकुलोद्भव विद्वान् का।

१०—मनुष्य पशुओं से कितना उच्च है? इसी प्रकार अशिक्षितों से शिक्षित उतना ही श्रेष्ठ है।

परिच्छेद ४२

बुद्धिमानों के उपदेश

निधियों में बहुमूल्य है, कानों का ही कोष ।
सबसे उत्तम सम्पदा, वही एक निर्दोष ॥१॥

नहीं मिले जब भाग्य से, कर्ण–मधुर कुछ पेय ।
उदरतृप्ति के अर्थ तब, भोजन भव्य विधेय ॥२॥

सन्तों के प्रवचन सुने, जिनने नित्य अनेक ।
पृथ्वी में हैं देवता, नर रूपी वे एक ॥३॥

नहीं पढ़ा तो भी, सुनने दो उपदेश ।
कारण विपदाकाल में, वह ही शान्तिसुधेश ॥४॥

धर्मवचन नर के लिए, दृढ़ लाठी का काम ।
देते विपदा काल में, कर रक्षा अविराम ॥५॥

लघु भी शिक्षा धर्म की, सुनो सदा दे ध्यान ।
कारण वह है एक ही, उन्नति का सोपान ॥६॥

श्रवण मनन जिसने किया, शास्त्रों का विधिवार ।
करे न वह बुध भूलकर, निन्द्य वचन व्यवहार ॥७॥

श्रवणशक्ति होते हुए, बहरे ही वे कान ।
विज्ञवचन जिनको नहीं, सुनने की कुछ बान ॥८॥

नहीं सुने चातुर्यमय, जिसने बुध–आलाप ।
भाषण की उसको कला, दुर्लभ होती आप ॥९॥

ज्ञानामृत के पान को, बहरे जिसके कान ।
उस पेटू के सत्य ही, जीवन मृत्यु समान ॥१०॥

परिच्छेद ४२

बुद्धिमानों के उपदेश

१—सब से बहुमूल्य, निधियों में कानों की निधि है, निस्सन्देह वह सब प्रकार की सम्पत्तियों से श्रेष्ठ सम्पत्ति है।

२—जब कानों को देने के लिए भोजन न रहेगा तो पेट के लिए भी कुछ भोजन दे दिया जायगा।

३—देखो, जिन लोगों ने बहुत से उपदेशों को सुना है वे पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देवतास्वरूप हैं।

४—यदि कोई मनुष्य विद्वान् न हो तो भी उसे उपदेश सुनने दो क्योंकि जब उसके ऊपर संकट पड़ेगा तब उनसे ही उसे कुछ सान्त्वना मिलेगी।

५—धर्मात्माओं के उपदेश, एक दृढ़ लाठी के समान हैं क्योंकि जो उनके अनुसार काम करते हैं उन्हें वे गिरने से बचाते हैं।

६—अच्छे शब्दों को ध्यानपूर्वक सुनो, चाहे वे थोड़े से ही क्यों न हों, क्योंकि वे थोड़े शब्द भी तुम्हारी प्रतिष्ठा में समुचित वृद्धि करेंगे।

७—जिस पुरुष ने खूब मनन किया है और बुद्धिमानों के वचनों को सुन सुनकर अनेक उपदेशों को जमा कर लिया है, वह भूल से भी कभी निरर्थक तथा वाहियात बातें नहीं करता।

८—सुन सकने पर भी वे कान बहिरे ही हैं जिनको उपदेश सुनने का अभ्यास नहीं है।

९—जिन लोगों ने बुद्धिमानों के चातुरीभरे शब्दों को नहीं सुना है उनके लिए भाषण की नम्रता प्राप्त करना कठिन है।

१०—जो लोग जिह्वा से तो चखते हैं, पर कानों की सुरसता से अनभिज्ञ हैं, वे चाहे जियें या मरें इससे जगत् का क्या आता जाता है?

परिच्छेद ४३

बुद्धि

सहसा विपदा चक्र में, प्रतिभा कवच समान ।
बुद्धिदुर्ग को घेर कर, होते रिपु हैं म्लान ॥१॥

यह सुबुद्धि ही रोकती, इन्द्रियविषयविकार ।
और अशुभ से श्रेष्ठपथ, ले जाती विधिवार ॥२॥

सच से मिथ्या बात को, करदेवे जो दूर ।
चाहे वक्ता कोई हो, वही बुद्धि गुणपूर ॥३॥

सरल सदा बोले सुधी, वाणी गौरवपूर्ण ।
पर-भाषण का मर्म भी, समझे वह अतितूर्ण[1] ॥४॥

सबसे करता प्रेममय, प्राज्ञ सदा व्यवहार ।
मैत्री जिसकी एकसी, चित्त व्यवस्थाधार ॥५॥

लोकरीति के तुल्य ही, करना सब व्यवहार ।
सूचित करता बुद्धि को, वृद्धकथन यह सार ॥६॥

प्रतिभाशाली जानता, पहिले ही परिणाम ।
नहीं जानता अज्ञ पर, आगे का परिणाम ॥७॥

विपदा ऊपर आप ही, पड़ना बुद्धि अनार्य ।
भीतियोग्य से भीत हो, रहना सन्मतिकार्य ॥८॥

दूरदृष्टि सब कार्य को, रहे प्रथम तैयार ।
इससे उस पर दुःख का, पड़े न कम्पक वार ॥९॥

प्रतिभा है यदि पास में, सब कुछ तब है पास ।
होकर भी पर मूर्ख के, मिले न कुछ भी पास ॥१०॥

---

१. शीघ्र ।

परिच्छेद ४३

बुद्धि

१—बुद्धि समस्त अचानक आक्रमणों को रोकने वाला कवच है, वह ऐसा दुर्ग है जिसे शत्रु भी घेर कर नहीं जीत सकते।

२—यह बुद्धि ही है जो इन्द्रियों को इधर उधर भटकने से रोकती है, उन्हें बुराई से दूर रखती है और शुभकर्म की ओर प्रेरित करती है।

३—समझदार बुद्धि का काम है कि हर एक बात में झूठ को सत्य से पृथक् कर दे, फिर उस बात का कहने वाला कोई क्यों न हो।

४—बुद्धिमान् मनुष्य जो कुछ कहता है इस तरह से कहता है कि उसे सब कोई समझ सके और दूसरों के मुख से निकले हुए शब्दों के आन्तरिक भाव को वह शीघ्र समझ लेता है।

५—बुद्धिमान् मनुष्य सबके साथ मिलनसारी से रहता है और उस की प्रकृति सदा एक सी रहती है, उसकी मित्रता न तो पहिले अधिक बढ़ जाती है और न एकदम घट जाती है।

६—यह भी एक बुद्धिमानी का काम है कि मनुष्य लोकरीति के अनुसार व्यवहार करे।

७—समझदार आदमी पहिले से ही जान जाता है कि क्या होने वाला है, पर मूर्ख आगे आने वाली बात को नहीं देख सकता।

८—संकट के स्थान में सहसा दौड़ पड़ना मूर्खता है। बुद्धिमानों का यह भी कहना है कि जिससे डरना चाहिए उससे डरता ही रहे।

९—जो दूरदर्शी आदमी हर एक विपत्ति के लिए पहिले से ही सचेत रहता है वह उस वार से बच रहेगा जो अति भयंकर है।

१०—जिसके पास बुद्धि है उसके पास सब कुछ है, पर मूर्ख के पास सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं है।

परिच्छेद ४४

दोषों को दूर करना

क्रोध दर्प को जीतकर, जिसमें हो वैराग्य ।
उसका एक अपूर्व ही, गौरवमय सौभाग्य ॥१॥

दर्प तथा लालच अधिक, मन भी विषयाधीन ।
भूपति में ये दोष भी, होते बहुधा तीन ॥२॥

राई सा निजदोष भी, माने ताड़ समान ।
जिसको उज्ज्वल कीर्ति है, प्यारी–चन्द्रसमान ॥३॥

दोषों का तुम नाश कर, बनो सदा निर्दोष ।
सर्वनाश ही अन्यथा, करदेंगे वे दोष ॥४॥

भावी दुःखों के लिए, जो न रहे तैयार ।
अग्नि–पतित वह घाससम, हो जाता निस्सार ॥५॥

परविशुद्धि के पूर्व जो, स्वयं बने निर्दोष ।
योगितुल्य उस भूप को, छू न सके कोई दोष ॥६॥

उचित कार्य में भी कभी, करे न दान–प्रकाश ।
उस मूंजी पर खेद है, जिसका अन्त विनाश ॥७॥

निन्दा में सब एक से, दिखते यद्यपि दोष ।
मूंजीपन पर भिन्न ही, उनमें अधिक सदोष ॥८॥

सहसा कोई बात पर, करना अति अनुराग ।
और वृथा जो काम हैं, उन सब को बुध त्याग ॥९॥

अपने मन की कामना, रखलो अरि से गुप्त ।
जिससे उसके यत्न ही, होजावें सब लुप्त ॥१०॥

परिच्छेद ५५

दोषों को दूर करना

१—जो मनुष्य, दर्प, क्रोध और विषय-लालसाओं से रहित है, उस में एक प्रकार का गौरव रहता है, जो उसके सौभाग्य को भूषित करता है।

२—कञ्जूसी, अहङ्कार और अमर्यादित विषय-लम्पटता, ये राजा में विशेष दोष होते हैं।

३—जिन लोगों को अपनी कीर्ति प्यारी है, वे अपने दोष को राई के समान छोटा होने पर भी ताड़ वृक्ष के बराबर समझते हैं।

४—अपने को दुर्गुणों से बचाने में सदा सचेत रहो, क्योंकि वे ऐसे शत्रु हैं जो तुम्हारा सर्वनाश कर डालेंगे।

५—जो आदमी अचानक आपड़ने वाली विपत्तियों के लिए पहिले से ही सज्जित नहीं रहता वह ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जिस प्रकार आग के सामने फूस का ढेर।

६—राजा यदि पहिले अपने दोषों को सुधार ले, तब दूसरों के दोषों को देखे, तो फिर कौनसी बुराई उसको छू सकती है?

७—खेद है उस कञ्जूस पर, जो व्यय करने की जगह व्यय नहीं करता, उसकी सम्पत्ति कुमार्गों में नष्ट होगी।

८—कञ्जूस मक्खीचूस होना ऐसा दुर्गुण नहीं है जिसकी गिनती दूसरी बुराइयों के साथ की जा सके, उसकी श्रेणि ही बिल्कुल अलग है।

९—किसी समय और किसी बात पर फूल कर आपे से बाहिर मत हो जाओ और ऐसे कामों में हाथ न डालो जिनसे तुम्हें कुछ लाभ न हो।

१०—तुम जिन बातों के रसिक हो उनका पता यदि तुम शत्रुओं को न चलने दोगे तो तुम्हारे शत्रुओं की योजनायें निष्फल सिद्ध होंगी।

परिच्छेद ४५

योग्य पुरुषों की मित्रता

करते करते धर्म जो, हो गये वृद्ध उदार ।
उनका लेलो प्रेम तुम, करके भक्ति अपार ॥१॥
आगे के या हाल के, जो हैं दुःख अथाह ।
उनसे रक्षक के सखा, बनो सदा सोत्साह ॥२॥
जिसे मिली वर मित्रता, पा करके सद्भाग्य ।
निस्संशय उस विज्ञ का, हरा भरा सौभाग्य ॥३॥
अधिकगुणी की मित्रता, जिसे मिली कर भक्ति ।
उसने एक अपूर्व ही, पाली अद्भुत शक्ति ॥४॥
होते हैं भूपाल के, मंत्री लोचनतुल्य ।
इससे उनको राखिए, चुनकर ही गुणतुल्य ॥५॥
सत्पुरुषों से प्रेममय, जिसका है व्यवहार ।
उसका वैरी अल्प भी, कर न सके अपकार ॥६॥
झिड़क सकें ऐसे सखा, प्रति दिन जिस के पास ।
गौरव के उस गेह में, करती हानि न बास ॥७॥
मंत्री के जो मंत्रसम, वचन न माने भूप ।
विना शत्रु उसका नियत, क्षय ही अन्तिमरूप ॥८॥
जैसे पूंजी के विना, मिले न धन का लाभ ।
प्राज्ञों की प्रतिभा विना, त्यों न व्यवस्थालाभ ॥९॥
जैसे अखिल विरोध है, बुद्धिहीनता दोष ।
सन्मैत्री का त्याग पर, उससे भी अतिदोष ॥१०॥

परिच्छेद ८५

योग्य पुरुषों की मित्रता

१—जो लोग धर्म करते करते वृद्ध हो गये हैं उनकी तुम भक्ति करो तथा मित्रता प्राप्त करने का यत्न करो।

२—तुम जिन कठिनाइयों मे फँसे हुए हो, उनको जो लोग दूर कर सकते हैं और आने वाली बुराइयों से जो तुम्हे बचा सकते हैं उत्साहपूर्वक उनके साथ मित्रता करने की चेष्टा करो।

३—यदि किसी को योग्य पुरुषों की प्रीति और भक्ति मिल जाय तो यह महान् से महान् सौभाग्य की बात है।

४—जो लोग तुमसे अधिक योग्यता वाले हैं, वे यदि तुम्हारे मित्र बन गये हैं तो तुमने ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली है जिसके सामने अन्य सब शक्तियां तुच्छ हैं।

५—मंत्री ही राजा की आंखें हैं, इसलिए उनके चुनने मे बहुत ही समझदारी और चतुराई से काम लेना चाहिए।

६—जो लोग सुयोग्य पुरुषों के साथ मित्रता का व्यवहार रख सकते हैं, उनके वैरी उनका कुछ बिगाड़ न सकेगे।

७—जिस आदमी को ऐसे लोगों की मित्रता का गौरव प्राप्त है कि जो उसे डाट-फटकार सकते हैं उसे हानि पहुँचाने वाला कौन है?

८—जो राजा ऐसे पुरुषों की सहायता पर निर्भर नहीं रहता कि जो समय पर उसको झिड़क सकें, शत्रुओं के न रहने पर भी उसका नाश होना अवश्यम्भावी है।

९—जिनके पास मूल धन नहीं है, उनको लाभ नही मिल सकता, ठीक इसी तरह प्रामाणिकता उन लोगों के भाग्य में नहीं होती कि जो बुद्धिमानों की अविचल सहायता पर निर्भर नहीं रहते।

१०—बहुत से लोगों को शत्रु बना लेना मूर्खता है किन्तु सज्जन पुरुषों की मित्रता को छोड़ना उससे भी कहीं अधिक बुरा है।

परिच्छेद ४६

कुसङ्ग से दूर रहना

उत्तम नर दुःसंग से, रहें सदा भयभीत ।
ओछे पर ऐसे मिलें, यथा कुटुम्बी मीत ॥१॥

बहता जैसी भूमि में बनता वैसा नीर ।
संगति जैसी जीव की, वैसा ही गुणशील ॥२॥

मस्तक से ही बुद्धि का, है सम्बन्ध विशेष ।
पर यश का सम्बन्ध तो, गोष्ठी पर ही शेष ॥३॥

नरस्वभाव का बाह्य में, दिखता मन में वास ।
पर रहता उस वर्ग में, बैठे जिसके पास ॥४॥

चाहे मन की शुद्धि हो, चाहे कर्मविशुद्धि ।
इन सब का पर मूल है, संगति की ही शुद्धि ॥५॥

संतपुरुष को प्राप्त हो, संतति योग्यविशेष ।
और सदा फूले फले, जब तक वय हो शेष ॥६॥

नर की एक अपूर्व ही, निधि है मन की शुद्धि ।
सत्संगति देती तथा, गौरव गुणमय बुद्धि ॥७॥

यद्यपि होते प्राज्ञजन, स्वयं गुणों की खान ।
सत्संगति को मानते, फिर भी शक्ति महान ॥८॥

पुण्यात्मा को स्वर्ग में, लेजाता जो धर्म ।
मिलता वह सत्संग से, करके उत्तम कर्म ॥९॥

परमसखा–सत्संग से अन्य न कुछ भी और ।
और अहित दुःसंग से, जो देखो कर गौर ॥१०॥

परिच्छेद ४६

कुसंग से दूर रहना

१—योग्य पुरुष कुसङ्ग से डरते हैं, पर क्षुद्र प्रकृति के आदमी दुर्जनों से इस रीति से मिलते जुलते हैं कि मानों वे उनके कुटुम्ब के ही हों।

२—पानी का गुण बदल जाता है, वह जैसी धरती पर वहता है वैसा ही गुण उसका हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की जैसी संगति होती है उस में वैसे ही गुण आ जाते हैं।

३—आदमी की बुद्धि का सम्बन्ध तो उसके मस्तक से है, पर उसकी प्रतिष्ठा तो उन लोगों पर पूर्ण अवलम्बित है जिनकी कि संगति में वह रहता है।

४—मालूम तो ऐसा होता है कि मनुष्य का स्वभाव उसके मन में रहता है, किन्तु वास्तव में उसका निवासस्थान उस गोष्ठी में है कि जिनकी सङ्गति वह करता है।

५—मनकी पवित्रता और कर्मों की पवित्रता आदमी की संगति की पवित्रता पर निर्भर है।

६—पवित्र हृदय वाले पुरुष की सन्तति उत्तम होगी और जिसकी संगति अच्छी है वे हर प्रकार से फूलते फलते हैं।

७—अन्तःकरण की शुद्धता ही मनुष्य के लिए बड़ी सम्पत्ति है और सन्त संगति उसे हर प्रकार का गौरव प्रदान करती है।

८—बुद्धिमान् यद्यपि स्वयमेव सर्वगुणसम्पन्न होते हैं, फिर भी वे पवित्र पुरुषों के सुसंग को शक्ति का स्तम्भ समझते हैं।

९—धर्म मनुष्य को स्वर्ग ले जाता है और सत्पुरुषों की संगति उसको धर्माचरण में रत करती है।

१०—अच्छी संगति से बढ़कर आदमी का सहायक और कोई नहीं है। और कोई वस्तु इतनी हानि नहीं पहुँचाती जितनी कि दुर्जन की संगति।

परिच्छेद ४७

विचार पूर्वक काम करना

व्यय क्या अथवा लाभ क्या ?, क्या हानि इस कार्य ।
ऐसा पहिले सोच कर, करे उसे फिर आर्य ॥१॥
ऐसों से कर मंत्रणा, जो उसके आचार्य ।
राज्य करे उस भूप को, कौन असम्भव कार्य ॥२॥
लालच दे बहुलाभ का, करदे क्षय ही मूल ।
बुध ऐसे उद्योग में, हाथ न डालें भूल ॥३॥
हँसी जिसे भाती नहीं, करवानी निजनाम ।
बिना विचारे वह नहीं, करता बुध कुछ काम ॥४॥
स्वयं न सज्जित युद्ध को, पर जूझे कर टेक ।
करता वह निज राज्य पर, मानों अरि अभिषेक ॥५॥
अनुचित कार्यों को करे, तब हो नर का नाश ।
योग्यकर्म यदि छोड़दे, तो भी सत्यानाश ॥६॥
बिना विचारे प्राज्ञगण, करे न कुछ भी काम ।
करके पीछे सोचते, उनकी बुद्धि निकाम ॥७॥
नीतिमार्ग को त्याग जो, करना चाहे कार्य ।
पाकर भी साहाय्य बहु, निष्फल रहे अनार्य ॥८॥
नरस्वभाव को देखकर, करो सदा उपकार ।
चूक करे से अन्यथा, होगा दुःख अपार ॥९॥
निन्दा से जो सर्वथा शून्य, करो वे काम ।
कारण निन्दित काम से, गौरव होता श्याम ॥१०॥

परिच्छेद ४७

विचारपूर्वक काम करना।

१—पहिले यह देखलो कि इस काम में लागत कितनी लगेगी, कितना माल खराब जायगा और लाभ इसमें कितना होगा, पीछे उस काम को हाथ में लो।

२—देखो, जो राजा सुयोग्य पुरुषों से सलाह करने के पश्चात् ही किसी काम को करने का निर्णय करता है उसके लिए ऐसी कोई बात नहीं है जो असम्भव हो।

३—ऐसे भी उद्योग हैं जो नफे का हरा भरा बाग दिखा कर अन्त मे मूलधन को नष्ट कर देते हैं, बुद्धिमान् लोग उनमें हाथ नहीं लगाते।

४—जो लोग यह नहीं चाहते कि दूसरे आदमी उन पर हँसें वे पहिले अच्छी तरह से विचार किये बिना कोई काम प्रारम्भ नहीं करते।

५—सब बातों की अच्छी प्रकार मोर्चाबन्दी किये बिना ही लड़ाई छेड़ देने का अर्थ यह है कि तुम शत्रु को पूरी सावधानी के साथ तैयार की हुई भूमि पर लाकर खड़ा कर देते हो।

६—कुछ काम ऐसे हैं कि जिन्हें नहीं करना चाहिए और यदि तुम करोगे तो नष्ट हो जाओगे तथा कुछ काम ऐसे हैं कि जिन्हें करना ही चाहिए, यदि तुम उन्हें न करोगे तो भी मिट जाओगे।

७—भली रीति से पूर्ण विचार किये बिना किसी काम को करने का निश्चय मत करो। वह मूर्ख है जो काम प्रारम्भ कर देता है और मनमें कहता है कि पीछे सोच लेंगे।

८—जो योग्यमार्ग से काम नहीं करता उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जावेगा, चाहे उसकी सहायता के लिए कितने ही आदमी क्यों न आ जायँ।

९—जिसका तुम उपकार करना चाहते हो, उसके स्वभाव का यदि तुम ध्यान न रक्खोगे तो तुम भलाई करने मे भी भूल कर सकते हो।

१०—तुम जो काम करना चाहते हो वह सर्वथा अपवाद रहित होना चाहिए, क्योंकि जगत में उसका अपमान होता है जो अपने पद के अयोग्य काम करने पर उतारू हो जाता है।

परिच्छेद ४८

शक्ति का विचार

विघ्नों को सोचे प्रथम, निज पर की फिर शक्ति ।
देखे पक्ष विपक्ष बल, कार्य करे फिर व्यक्ति ॥१॥

बना सुशिक्षित और जो, रखना निजबल-ज्ञान ।
अनुगामी हो बुद्धि का, सफल उसी का यान ॥२॥

मानी निजबल के बहुत, हुए नरेश अनेक ।
शक्ति अधिक जो कार्य कर, मिटे वृथा रख टेक ॥३॥

बहुमानी अथवा जिसे, नहीं बलाबलज्ञान ।
या अशान्त जीवन अधिक, तो समझो अवशान ॥४॥

दुर्बल भी दुर्जय बने, पाकर सब का संग ।
मोरपंख के भार से, होता रथ भी भंग ॥५॥

क्रिया, शक्ति को देख कर, करते बुद्धिविशाल ।
तरु की चोटी अज्ञ चढ़, शिरपर लेना काल ॥६॥

वैभव के अनुरूप ही, करो सदा बुध दान ।
यह ही योगक्षेम का, कारण श्रेष्ठ विधान ॥७॥

क्या चिन्ता यदि आय की, नाली है संकीर्ण ।
व्यय की यदि नाली नहीं, गृह में अति विस्तीर्ण ॥८॥

द्रव्य तथा निजशक्ति के, लेखे का जो काम ।
रखे नहीं जो पूर्व से, रहे न उसका नाम ॥९॥

खुले हाथ जो द्रव्य को, लुटवाता अज्ञान ।
क्षय में मिलता शीघ्र ही. उसका कोष महान ॥१०॥

परिच्छेद ४९

शक्ति का विचार

१—जिस साहस से कर्म को तुम करना चाहते हो उसमें आने वाले संकटों को योग्य रीति से देख भाल लो, उसके पश्चात् अपनी शक्ति, अपने विरोधी की शक्ति तथा अपने और विरोधी के सहायकों की शक्ति को देखो, पीछे उस काम को प्रारम्भ करो।

२—जो अपनी शक्ति को जानता है और जो कुछ उसे सीखना चाहिए वह सीख चुका है तथा जो अपनी शक्ति और ज्ञान की सीमा के वाहिर पाँव नहीं रखता, उसके आक्रमण कभी व्यर्थ नहीं जायँगे।

३—ऐसे वहुत से राजा हुए जिन्होंने आवेश में आकर अपनी शक्ति को अधिक समझा और काम प्रारम्भ कर वैठे, पर वीच में ही उनका काम तमाम हो गया।

४—जो आदमी शान्तिपूर्वक रहना नहीं जानते, जो अपने वलावल का ज्ञान नहीं रखते और जो घमण्ड मे चूर रहते हैं, उनका शीघ्र ही अन्त हो जाता है।

५—हद से अधिक मात्रा में रखने से मोरपंख भी गाड़ी की धुरी को तोड़ डालेंगे।

६—जो लोग वृक्ष की चोटी तक पहुँच गये हैं वे यदि अधिक ऊपर चढ़ने की चेष्टा करेंगे तो अपने प्राण गमायँगे।

७—तुम्हारे पास कितना धन है इस वात का विचार रक्खो और उसके अनुसार ही तुम दान-दक्षिणा दो, योगक्षेम की वस यही रीति है।

८—भरने वाली नाली यदि तङ्ग है तो कोई पर्वाह नहीं, परन्तु व्यय करने वाली नाली अधिक विस्तीर्ण न हो।

९—जो अपने धन का हिसाव नहीं रखता और न अपनी सामर्थ्य को देखकर काम करता है, वह देखने मे वैभवभरा भले ही लगे पर वह इस तरह नष्ट होगा कि उसका नामोल्लेख भी न रहेगा।

१०—जो आदमी अपने धन का लेखाजोखा न रखकर, खुले हाथों से उसे लुटाता है, उसकी सम्पत्ति शीघ्र ही समाप्त हो जायगी।

परिच्छेद ४९

अवसर की परख

उल्लू पर पाता विजय, जैसे दिन को काक ।
वैसे अरि पर भूप भी, विजयी अवसर ताक ॥१॥

करलेना निजसाधना, देख समय को खास ।
मानो देना प्रेममय, भाग्यश्री को पास ॥२॥

साधन अवसर प्राप्त कर, करले जो व्यवहार्य ।
कार्यकुशल उस आर्य को, कौन असम्भव कार्य ॥३॥

साधन अवसर की अहो, रखते परख विशेष ।
जीतोगे निजशक्ति से, यह ही विश्व अशेष ॥४॥

जय-इच्छुक हैं देखते, अवसर को चुपचाप ।
विचलित हो करते नहीं, सहसा कार्यकलाप ॥५॥

हटकर मेढ़ा युद्ध में, करता जैसे चूर ।
कर्मठ भी वैसा दिखे, अकर्मण्य कुछ दूर ॥६॥

क्रोध प्रगट करते नहीं, तत्क्षण ही धीमान ।
अवसर उसका ताकते, करके मनमें पान ॥७॥

तब तक पूजो शत्रु को, जब तक उसका काल ।
जब हो अवनतिचक्र में, भू में मारो भाल ॥८॥

शुभ अवसर जब प्राप्त हो, करलो तब ही आर्य ।
निस्संशय हो शीघ्र ही, जो भी दुष्कर कार्य ॥९॥

अक्रिय बनता प्राज्ञनर, देख समय विपरीत ।
बकसम वह ही टूटता, जब देखे निजजीत ॥१०॥

परिच्छेद ४९

अवसर की परख

१—दिनमें कौआ उल्लू पर विजय पाता है। जो राजा अपने शत्रु को हराना चाहता है उसके लिए अवसर भी एक बड़ी वस्तु है।

२—सदैव समय को देखकर काम करना यह एक ऐसी डोरी है जो सौभाग्य को दृढ़ता के साथ तुम से आबद्ध कर देगी।

३—यदि उचित अवसर और साधनों का ध्यान रख कर काम प्रारम्भ किया जाय और समुचित साधनों को उपयोग में लिया जावे तो ऐसी कौनसी बात है जो असम्भव हो।

४—यदि तुम योग्य अवसर और उचित साधनों को चुनोगे तो सारे जगत को जीत सकते हो।

५—जिनके हृदय में विजयकामना है वे चुपचाप मौका देखते रहते हैं, वे न तो गड़बड़ाते हैं और न उतावले ही होते हैं।

६—चकनाचूर कर देने वाली चोट लगने के पहिले, मेढ़ा एक बार पीछे हट जाता है। कर्मवीर की निष्कर्मण्यता भी ठीक इसी भाँति की होती है।

७—बुद्धिमान् लोग उसी क्षण अपने क्रोध को प्रगट नहीं करते। वे उसको मन ही मन में रखते हैं और अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं।

८—अपने वैरी के सामने झुक जाओ, जब तक उसकी अवनति का दिन नहीं आता। जब वह दिन आयेगा तब सुगमता के साथ उसे सिर के बल नीचे फैंक दे सकोगे।

९—जब तुम्हें असाधारण अवसर मिले तो तुम हिचकिचाओ मत, बल्कि उसी क्षण काम मे जुट जाओ, फिर चाहे वह असम्भव ही क्यों न हो।

१० - जब समय तुम्हारे प्रतिकूल हो तो बगुला की तरह निष्कर्मण्यता का बहाना करो, लेकिन जब वह अनुकूल हो तो बगुले के समान ही झपट-कर तेजी के साथ हमला करो।

परिच्छेद ५०

स्थान का विचार

विना विचारे क्षेत्र के, या रिपु को लघु मान ।
कार्य तथा सग्राम को, करे नहीं सज्ञान ॥१॥
चाहे नर हो पूर्ण भट, और प्रतापी आर्य ।
दुर्गाश्रय फिर भी उसे, है आवश्यक कार्य ॥२॥
जो लड़ता है युक्ति से, चुनकर योग्य स्थान ।
दुर्वल होकर भी अहो, जीते, वह बलवान ॥३॥
जमकर उत्तम भूमि पर, लेकर जो वर शस्त्र ।
लड़ता उसके शत्रुगण, युक्ति-विफल गतिशस्त्र ॥४॥
भयदाई होता मगर, जलमें सिंह समान ।
बने खिलौना शत्रु का, जब आवे मैदान ॥५॥
उत्तम रथ भी सिन्धु में, करे न कुछ भी काज ।
वैसे ही भू पर नहीं, चलता कभी जहाज ॥६॥
लड़े जो उत्तम क्षेत्र पर, साज सजा युद्धार्थ ।
आवश्यक उसको नहीं, पर-बल भी विजयार्थ ॥७॥
दुर्वल भी वरक्षेत्र को, पा ले यदि निरपाय[1] ।
हो जाते तब शत्रु के, निष्फल सर्व उपाय ॥८॥
अन्नादिक जिस जाति को, दुर्लभ है रक्षार्थ ।
फिर भी उसको देश में, जय करना कठिनार्थ ॥९॥
भालों के जिसने सहे, विना निमेष प्रहार ।
उस ही गज को पंक में, गीदड़ देता हार ॥१०॥

---

१. अपाय रहित ।

परिच्छेद ५०

स्थान का विचार

१—युद्धक्षेत्र की भली भाँति जाँच किये विना लड़ाई न छेड़ो और न कोई काम प्रारम्भ करो तथा शत्रु को छोटा मत समझो।

२—दुर्गवेष्टित स्थान पर खड़ा होना शक्तिशाली और प्रतापी पुरुष के लिए भी अत्यन्त लाभदायक है।

३—यदि समुचित रणभूमि को चुन लें और सावधानी के साथ युद्ध करें तो दुर्वल भी अपनी रक्षा करके शक्तिशाली शत्रु को जीत सकते हैं।

४—यदि तुम पहिले ही सुदृढ़ बनाये हुए स्थान पर खड़े हो और वहाँ डटे हो तो तुम्हारे वैरियों की सब युक्तियाँ निष्फल सिद्ध होंगी।

५—पानी के भीतर मगर शक्तिशाली है, किन्तु बाहिर निकलने पर वह वैरियों के हाथ का खिलौना है।

६—नीचट पहियों वाला रथ समुद्र के ऊपर नहीं दौड़ता है और न सागर-गामी जहाज भूमि पर तैरता है।

७—देखो, जो राजा सब कुछ पहिले से ही निर्धारित कर रखता है और समुचित स्थान पर आक्रमण करता है, उसको अपने बल के अतिरिक्त दूसरे सहायकों की आवश्यकता नहीं है।

८—जिसकी सेना निर्बल है वह राजा यदि रणक्षेत्र के समुचित भाग में जाकर खड़ा हो तो उसके शत्रुओं की सारी चेष्टायें व्यर्थ सिद्ध होंगी।

९—यदि रक्षा के साधन और अन्य सुभीते न भी हों तो भी किसी को उसके देश में हराना कठिन है।

१०—देखो, उस गजराज को, जिसने पलक मारे विना, भाले बरदारों की सारी सैन्य का सामना किया, लेकिन जब वही दलदली भूमि में फँस जाता है तो एक गीदड़ भी उसके ऊपर विजय पा लेता है।

परिच्छेद ५१

विश्वासपुरुषों की परीक्षा

धनसे, भयसे, कामसे, और धर्मसे भूप ।
जाँचो नर के सत्य को, मान कसौटी रूप ॥१॥

जिसे प्रतिष्ठाभंग का, भय रहता स्वयमेव ।
उस कुलीन निर्दोष को, रखो सदा नरदेव ॥२॥

ज्ञानविभूषित प्राज्ञ नर, ऋषिसम शीलाधार ।
दोषशून्य वे भी नहीं, जो देखो सुविचार ॥३॥

सद्गुण देखो पूर्व में, फिर देखो सब दोष ।
उनमें जो भी हों अधिक, प्रकृति उसीसम घोष ॥४॥

इसका मन क्या क्षुद्र है, अथवा उच्च उदार ।
एक कसौटी है इसे, देखो नर-आचार ॥५॥

आशु–प्रतीति न योग्य वे, जो नर हैं गृहहीन ।
कारण एकाकी मनुज, लज्जा–ममताहीन ॥६॥

मूर्ख मनुज से प्रेमवश, करके यदि विश्वास ।
करे मंत्रणा भूप तो, विपदायें शिर–पास ॥७॥

अपरीक्षित नर का अहो, जो करता विश्वास ।
दुःखबीज बोकर कुधी, देता संतति त्रास ॥८॥

करो परीक्षित पुरुष का, मन में नृप विश्वास ।
जाँच अनन्तर योग्यपद, दो उसको सोल्लास ॥९॥

विना ज्ञान कुल शील के, करना परविश्वास ।
अप्रतीति फिर ज्ञात की, दोनों देते त्रास ॥१०॥

परिच्छेद ५१

विश्वस्त पुरुषों की परीक्षा

१—धर्म, अर्थ, काम और प्राणों का भय, ये चार कसौटियाँ हैं जिन पर कस कर मनुष्य को चुनना चाहिए।

२—जो अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ है, दोषों से रहित है और अपयश से डरता है वही तुम्हारे लिए योग्य मनुष्य है।

३—जब तुम परीक्षा करोगे तो देखोगे कि अत्यन्त ज्ञानवान और शुद्ध-मन वाले लोग भी हर प्रकार के अज्ञान से सर्वथा अलिप्त न निकलेंगे।

४—मनुष्य की भलाइयों को देखो और फिर उसकी बुराइयों पर दृष्टि डालो। इनमें जो अधिक हैं, बस समझ लो वैसा ही उसका स्वभाव है।

५—क्या तुम जानना चाहते हो कि अमुक मनुष्य उदारचित्त है या क्षुद्रहृदय? स्मरण रक्खो कि आचार-व्यवहार चरित्र की कसौटी है।

६—सावधान! उन लोगों का विश्वास देखभाल कर करना कि जिनके आगे पीछे कोई नहीं है, क्योंकि उन लोगों का हृदय ममताहीन और लज्जारहित होता है।

७—यदि तुम किसी मूर्ख को अपना विश्वासपात्र सलाहकार बनाना चाहते हो, केवल इसलिए कि तुम उसे प्यार करते हो, तो सोच रक्खो कि वह तुम्हें अनन्त मूर्खताओं में ला पटकेगा।

८—जो आदमी परीक्षा लिये बिना ही दूसरे मनुष्य का विश्वास करता है, वह अपनी संतति के लिए अनेक आपत्तियों का बीज बो रहा है।

९—परीक्षा किये बिना किसी का विश्वास न करो और अपने आदमियों की परीक्षा लेने के अनन्तर हर एक को उसके योग्य काम दो।

१०—अनजाने मनुष्य पर विश्वास करना और जाने हुए योग्य पुरुष पर सन्देह करना, ये दोनों ही बातें एक समान अगणित आपत्तियों की जननी हैं।

परिच्छेद ५२

पुरुषपरीक्षा और नियुक्ति

गुण दुर्गुण जाने उभय[1], चलता पर, शुभचाल ।
ऐसे को ही कार्य में, कर नियुक्त नरपाल ॥१॥

जिसकी प्रतिभा से रहे, शासन में विस्फूर्ति ।
और हटे विपदा वही, करे सचिवपद-पूर्ति ॥२॥

निर्लोभी, करुणाभरा, कर्मठ, बुद्धिविशाल ।
राज्यकार्य को राखिए, ऐसा नर भूपाल ॥३॥

ऐसे भी नर हैं बहुत, जिनका पौरुष ख्यात ।
वे भी नर कर्तव्य से, अवसर पर हटजात ॥४॥

प्रीतिमात्र से कार्य का, भार न दो नरनाथ ।
कार्यकुशल हो शान्तिमय, यह भी देखो साथ ॥५॥

जिसकी जैसी योग्यता, वैसा दो अनुरूप ।
कार्य उसे फिर काम को, करवाओ मनरूप ॥६॥

पहिले देखो शक्ति को, फिर उसके सब कार्य ।
तब दो सेवक हाथ में, गतसंशय हो, कार्य ॥७॥

उस पद को उपयुक्त यह, हो यदि यह ही भाव ।
तब उसके अनुरूप ही, करो व्यवस्था राव ॥८॥

भक्त कुशल भी भृत्यपर, रुष्ट रहे जो देव ।
भाग्यश्री उस भूप की, फिरजाती स्वयमेव ॥९॥

भृत्यवर्ग के कार्य को, प्रतिदिन देखो भूप ।
शुद्ध भृत्य हों राज्य में, फिर विपदा किसरूप ॥१०॥

---

१. दोनो ।

परिच्छेद ५२

पुरुष परीक्षा और नियुक्ति

१—जो आदमी नेकी को भी देखता है और बदी को भी देखता है, लेकिन पसन्द उसी बात को करता है कि जो नेक है, बस उसी आदमी को अपनी नौकरी में लो।

२—जो मनुष्य तुम्हारे राज्य के साधनों को विस्फूर्त कर सके और उस पर जो आपत्ति पड़े उसे दूर कर सके, ऐसे ही आदमी के हाथ में अपने राज्य का प्रबन्ध सौंपो।

३—उसी आदमी को अपना कर्मचारी चुनो कि जिसमें दया, बुद्धि और द्रुत-निश्चय है अथवा जो लालच से परे है।

४—बहुत से आदमी ऐसे हैं जो सब प्रकार की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाते हैं, फिर भी ठीक कर्तव्यपालन के समय वे बदल जाते हैं।

५—आदमियों के तद्विषयक ज्ञान और उसकी शान्तिपूर्ण कार्यकारिणी शक्ति का विचार करके ही उनके हाथों में काम सौंपना चाहिए, इसलिए नहीं कि वे तुमसे प्रेम करते हैं।

६—प्रवीण मनुष्य को चुनकर उसे वही काम दो जिसके वह योग्य है, फिर जब काम करने का ठीक समय आवे तो उससे काम प्रारम्भ करवा दो।

७—पहिले सेवक की शक्ति और उसके योग्य काम का पूर्ण विचार करलो तब उसकी जवाबदारी पर वह काम उसके हाथमें दो।

८—जब तुम निश्चय कर चुको कि यह आदमी इस पद के योग्य है तब तुम उसे उस पद को सुशोभित करने योग्य बना दो।

९—जो व्यक्ति अपने भक्त और कार्यनिष्णात कर्मचारी पर रुष्ट होता है, भाग्यलक्ष्मी उससे फिर जायगी।

१०—राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन हर एक काम की देखभाल करता रहे, क्योंकि जब [illegible] किसी देश के कर्मचारियों में दूषण न होंगे तब तक [illegible] आपत्ति न आयेगी।

परिच्छेद ५३

बन्धुता

स्नेहस्थिरता दुःख में, दृष्ट न हो अन्यत्र ।
वह तो केवल बन्धु में, दिखती है एकत्र ॥१॥
घटे नहीं जिस व्यक्ति से, बन्धुजनों का प्यार ।
उसकी वैभववृद्धि का रुद्ध न होता द्वार ॥२॥
सहृदय हो जिसने नहीं, लिया बन्धु अनुराग ।
बाँधविना वह सत्य ही, रीता एक तडाग ॥३॥
वैभव का उद्देश्य क्या, कौन तथा फलरीति ।
स्वजनों को एकत्र कर, लेना उनकी प्रीति ॥४॥
वाणी जिसकी मिष्ट हो, कर हो पूर्ण उदार ।
पंक्ति बाँध उसके यहाँ, आते बन्धु अपार ॥५॥
अमितदान दे विश्व को, तथा न जिसको क्रोध ।
विश्वबन्धु वह एक ही, जो देखो भू सोध ॥६॥
काक स्वार्थ से बन्धु को, नहीं छिपावे भक्ष्य ।
वैभव भी उसके यहाँ जिसका ऐसा लक्ष्य ॥७॥
राजा गुण अनुसार ही, करे बन्धु-सन्मान ।
दिखें बहुत से अन्यथा, ईर्ष्या की ही खान ॥८॥
हटे उदासी-हेतु तो, मिटजावे अनमेल ।
होते मनकी शुद्धि ही, बन्धु करे फिर मेल ॥९॥
एक बार तो तोड़ फिर, जो जोड़े सम्बन्ध ।
हो सहर्ष उससे मिलो, रखकर तर्क प्रबंध ॥१०॥

परिच्छेद ५३

बन्धुता

१—केवल बन्धुता मे ही विपत्ति के दिनों मे भी स्नेह में स्थिरता रहती है।

२—यदि मनुष्य बन्धुगणों से सौभाग्यशाली है और बन्धुगणों का प्रेम उस के लिए घटता नहीं है तो उसका ऐश्वर्य कभी बढ़ने से नहीं रुक सकता।

३—जो मनुष्य अपने सम्बन्धियों के साथ सहृदयतापूर्वक नहीं मिलता है और उनका स्नेह नहीं पाता है वह उस सरोवर के समान है जिसमें ठेंटा न हो और बढ़ती रूपी पानी उससे दूर बह जाता है।

४—अपने नातेदारों को एकत्रित कर उन्हें अपने स्नेह बन्धन में बांधना ही ऐश्वर्य का लाभ और उद्देश्य है।

५—यदि एक आदमी की वाणी मधुर है और उदारहस्त है तो उस के सम्बन्धी उसके पास पंक्ति बांधकर एकत्रित हो जायेंगे।

६—जो मनुष्य बिना रोक के खूब दान करता है और कभी क्रोध नहीं करता, उससे बढ़कर जगत बन्धु कौन है?

७—कौआ अपने भाइयों से अपने भोजन को स्वार्थ से छिपाता नहीं है, बल्कि प्यार से उसको बांटकर खाता है। ऐश्वर्य ऐसे ही प्रकृति के लोगों के साथ रहेगा।

८—यह अच्छा है यदि राजा अपने सभी सम्बन्धियों के साथ एक सा व्यवहार नहीं करता परन्तु प्रत्येक के साथ उसकी योग्यतानुसार भिन्न भिन्न व्यवहार करता है, क्योंकि ऐसे भी बहुत से हैं जो विशेषाधिकार को एकाकी रूप से भोगना पसन्द करते हैं।

९—एक सम्बन्धी का मनमुटाव सरलता से दूर हो जाता है। यदि उदासीनता का कारण हटा दिया जाय तो वह तुम्हारे पास वापिस आ जायगा।

१०—जब एक सम्बन्धी जिसका सम्बन्ध तुम से टूट गया हो और तुम्हारे पास किसी प्रयोजन के कारण वापिस आता है तो तुम उसे स्वीकार करो, परन्तु सतर्कता के साथ।

परिच्छेद ५४

निश्चिन्तता से बचाव

अमित कोप से निंद्य वह, बेखटकी है तात ।
अमिट अल्प सन्तोष से, मन में जो जमजात ॥१॥

जैसे दुष्ट दरिद्रता, करती प्रतिभानाश ।
वैसे ही निश्चिन्तता, करती वैभवनाश ॥२॥

कभी नहीं निश्चिन्त को, होती धन की आय ।
ऐसा करते अन्त में, निर्णय सब आम्नाय ॥३॥

दुर्गाश्रय का कौनसा, कायर को उपयोग ।
बहुसाधन से सुस्त के, क्या बढ़ते उद्योग ॥४॥

निजरक्षा के अर्थ भी, करता सुस्त प्रमाद ।
पीछे संकटग्रस्त हो, करता वही विषाद ॥५॥

पर से शुभ वर्ताव को, सजग मनुज यदि तात ।
भूतल में फिर कौन है, इससे बढ़कर बात ॥६॥

ध्यान लगा जो चित्त से, कर सकता सब कार्य ।
नहीं अशक्य उस आर्य को, भू में कुछ भी कार्य ॥७॥

विज्ञप्रदर्शित कार्य को, करे तुरत ही भूप ।
शुद्धि न होगी अन्यथा, जीवन भर अनुरूप ॥८॥

सुस्ती का जब चित्त में, होवे कुछ भी भान ।
मिटे उसीसे लोग जो, उनका कर तब ध्यान ॥९॥

रखता है निज ध्येय पर, दृष्टि सदा जो आर्य ।
सहज सिद्धि उसके यहाँ, मनचाहे सब कार्य ॥१०॥

परिच्छेद ५४

निश्चिन्तता से बचाव

१—अत्यन्त रोष से भी अचेत अवस्था बहुत बुरी है जो कि अहङ्कार पूर्ण अल्प सन्तोष से उत्पन्न होती है।

२—निश्चिन्तता के भ्रमात्मक विचार कीर्ति का भी नाश करते हैं जैसे दरिद्रता बुद्धि को कुचल देती है।

३—वैभव असावधान लोगों के लिए नहीं है, ऐसा संसार के सभी विज्ञजनों का निश्चय है।

४—कापुरुष के लिए दुर्गों से क्या लाभ है। और असावधान के लिए पर्याप्त सहायक उपायों का क्या उपयोग ?

५—जो पहिले से अपनी रक्षा में प्रमादी रहता है तब वह अपनी निश्चिन्तता पर पीछे से विलाप करता है, जब कि वह विपत्ति से विस्मित हो जाता है।

६—यदि तुम अपनी सावधानी में हर समय और हरेक प्रकार के आदमियों से रक्षा करने में सुस्ती नहीं करते तो इसके बराबर और क्या बात है!

७—उस मनुष्य के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है जो कि अपने काम में सुरक्षित और सजग रहने का विचार रखता है।

८—राजा को चाहिए कि विद्वानों द्वारा प्रशंसित कार्यों में अपने को परिश्रमपूर्वक जुटा दे। यदि वह उनकी उपेक्षा करता है तो वह दुःख उठाने से कभी भी नहीं बच सकता।

९—जब तुम्हारी आत्मा अहङ्कार और उत्सेक से मोहित होने को हो तब मस्तक में उनका स्मरण रक्खो जो कि लापरवाही और बेसुधपन से नष्ट हो गये हैं।

१०—निश्चय ही एक मनुष्य के लिए यह सरल है वह जो कुछ इच्छा करे उसको प्राप्त करले, लेकिन वह अपने उद्देश को निरन्तर अपने मस्तिष्क के सामने रक्खे।

परिच्छेद ५५

न्याय-शासन

न्याय समय निष्पक्ष हो, करलो भूप विचार ।
लो सम्मति नीतिज्ञ की, फिर दो न्याय उदार ॥१॥

देखे जीवनदान को, भू ज्यों वारिद ओर ।
त्यों ही जनता न्यायहित, तकती नृप की ओर ॥२॥

राजदण्ड ही धर्म का, जैसे रक्षक मुख्य ।
वैसे ही वह लोक में, विद्यापोषक मुख्य ॥३॥

शासन में जिस भूप के, प्रीतिसुधा भरपूर ।
राजश्री उस भूप से, होती कभी न दूर ॥४॥

कर में लेता न्याय को, यथाशास्त्र जो भूप ।
होती उसके राज्य में, वर्षा धान्य अनूप ॥५॥

तीखा भाला है नहीं, जय में कारण एक ।
धर्म-न्याय ही भूप के, जय में कारण एक ॥६॥

राजा गुणमय तेज से, रक्षक भू का एक ।
नृप का रक्षक धर्ममय, अनुशासन ही एक ॥७॥

जिसका ध्यान न न्याय में, दर्शन कष्टनिधान ।
वह नृपपद से भ्रष्ट हो, विना शत्रु हतमान ॥८॥

भीतर के या बाह्य के, रिपु को देकर दण्ड ।
करता नृप कर्तव्य फिर, दूषण कौन प्रचण्ड ॥९॥

सुजनत्राण को दुष्ट का, बध भी है शुभकर्म ।
धान्यवृद्धि को खेत में, तृण का छेदन धर्म ॥१०॥

परिच्छेद ५५

न्याय-शासन

१—पूर्ण विचार करो और किसी की ओर मत झुको, निष्पक्ष होकर नीतिज्ञजनों की सम्मति लो, न्याय करने की यही रीति है।

२—संसार जीवनदान के लिए बादलों की ओर देखता है, ठीक इसी प्रकार न्याय के लिए लोग राजदण्ड की ओर निहारते हैं।

३—राज-दण्ड ही ब्रह्म-विद्या और धर्म का मुख्य संरक्षक है।

४—जो राजा अपने राज्य की प्रजा पर प्रेम-पूर्वक शासन करता है उससे राज्यलक्ष्मी कभी पृथक् न होगी।

५—जो नरेश नियमानुसार राज-दण्ड धारण करता है उसका देश समयानुकूल वर्षा और शस्य-श्री का घर बन जाता है।

६—राजा की विजय का कारण उसका भाला नहीं होता है बल्कि यों कहिये कि वह राज-दण्ड है जो निरन्तर सीधा रहता है और कभी किसी की ओर को नहीं झुकता।

७—राजा अपनी समस्त प्रजा का रक्षक है और उसकी रक्षा करेगा उसका राज-दण्ड, परन्तु वह उसे कभी किसी की ओर न झुकने दे।

८—जिस राजा की प्रजा सरलता से उसके पास तक नहीं पहुँच सकती और जो ध्यानपूर्वक न्याय-विचार नहीं करता, वह राजा अपने पद से भ्रष्ट हो जायगा और वैरियों के न होने पर भी नष्ट हो जायगा।

९—जो राजा आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से अपनी प्रजा की रक्षा करता है, वह यदि अपराध करने पर उन्हें दण्ड दे तो यह उसका दोष नहीं है, किन्तु कर्तव्य है।

१०—दुष्टों को मृत्युदण्ड देना अनाज के खेत से घास को बाहिर निकालने के समान है।

परिच्छेद ५६

अत्याचार

जो शासक अतिदुष्ट है, प्रजावर्ग के बीच ।
वह भूपति नृप ही नहीं, घातक से भी नीच ॥१॥

निर्दय शासक के लगें, ऐसे मीठे बोल ।
डाकू जैसे बोलता, देदे जो हो खोल ॥२॥

जो नरेश देखे नहीं, प्रतिदिन शासनचक्र ।
राजश्री इस दोष से, होती उससे वक्र ॥३॥

विचलित हो जो न्याय से, उस नृप पर बहुशोक ।
राज्य सहित वह मूढ़धी, खोता धन अस्तोक[1] ॥४॥

त्रस्त प्रजा जब दुःख से, रोती आँसू ढार ।
वह जाती तब भूप की, सारी श्री उस धार ॥५॥

शासन यदि हो न्यायमय, तो नृपकी वरकीर्ति ।
न्याय नहीं यदि राज्य में, तो उसकी अपकीर्ति ॥६॥

विनावृष्टि नभके तले, पृथ्वी का जो हाल ।
निर्दयनृप के राज्य में, वही प्रजा का हाल ॥७॥

अन्यायी के राज्य में, दुःखित सब ही लोग ।
पर कुदशा भोगें अधिक, धनिकवर्ग के लोग ॥८॥

न्यायधर्म को लाँघ कर, चलता नृप जब चाल ।
स्वर्गनीर वर्षे बिना, पड़ता तब दुष्काल ॥९॥

तजदे शासन न्यायमय, नृप करके अज्ञान ।
पय सूखे तब धेनु का, द्विज भूलें निज ज्ञान ॥१०॥

---

१. बहुत ।

परिच्छेद ५६

अत्याचार

१—जो राजा अपनी प्रजा को सताता है और उस पर अन्याय व अत्याचार करता है वह हत्यारे से भी बढ़कर बुरा है।

२—जो राज-दण्ड धारण करता है, उसकी प्रार्थना ही हाथ में तलवार लिये हुए डाकू के इन शब्दों के समान है "खड़े रहो और जो कुछ है रखदो"।

३—जो राजा प्रतिदिन राज्य-संचालन की देख रेख नहीं रखता और उसमें जो त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर नहीं करता उसकी प्रभुता दिन दिन क्षीण होती जायगी।

४—शोक है उस विचारहीन राजा पर, जो न्यायमार्ग से चल विचल हो जाता है, वह अपना राज्य और विपुल धन सब खो देगा।

५—निस्सन्देह ये, अत्याचार-दलित दुःख से कराहते हुए लोगों के आंसू ही हैं, जो राजा की समृद्धि को धीरे धीरे बहा ले जाते हैं।

६—न्याय-शासन द्वारा ही राजा को यश मिलता है और अन्याय-शासन उसकी कीर्ति को कलङ्कित करता है।

७—वर्षाहीन आकाश के तले पृथ्वी की जो दशा होती है, ठीक वही दशा निर्दयी राजा के राज्य में प्रजा की होती है।

८—अत्याचारी नरेश के शासन में गरीबों से अधिक दुर्गति धनिकों की होती है।

९—यदि राजा न्याय और धर्म के मार्ग से पराङ्मुख हो जायगा तो आकाशसे ठीक समय पर वर्षाकी बौछारें आना बन्द हो जायँगी।

१०—यदि राजा न्याय-पूर्वक शासन नहीं करेगा तो गाय के थन सूख जायँगे और द्विज अपनी विद्या को भूल जायँगे।

परिच्छेद ५७

भयप्रद कृत्यों का त्याग

दोषी को नृप दण्ड दे, सीमा में अनुरूप ।
करे न दोषी दोष फिर, हो उसका यह रूप ॥१॥

शक्ति रहे मेरी अटल, यह चाहो यदि तात ।
तो कर में वह दण्ड लो, जिसका मृदु आघात ॥२॥

असि ही जिसका दण्ड वह, बड़ा भयंकर भूप ।
कौन सखा उसका यहाँ, क्षय ही अन्तिम रूप ॥३॥

निर्दय शासन के लिए, जो शासक विख्यात ।
असमय में पदभ्रष्ट हो, खोता तन वह तात ॥४॥

भीम अगम्य नरेश की, श्री यों होती भान ।
राक्षस रक्षित भूमि में, ज्यों हो एक-निधान ॥५॥

क्षमारहित जो क्रूर नृप, बोले वचन अनिष्ट ।
बढ़ा चढ़ा उसका विभव, होगा शीघ्र विनष्ट ॥६॥

कर्कश वाणी और हो, सीमा बाहिर दण्ड ।
काटें तीखे शस्त्र ये, नृप की शक्ति प्रचण्ड ॥७॥

प्रथम नहीं ले मंत्रणा, सचिवों से जो भूप ।
क्षोभ उसे वैफल्य से, श्री उसकी हतरूप ॥८॥

रहा अरक्षित जो नृपति, पाकर भी अवकाश ।
चौंक उठेगा कांप कर, रण में लख निज नाश ॥९॥

मूर्ख मनुज या चाटुकर, देते जहाँ सलाह ।
ऐसे कुत्सित राज्य में, पृथ्वी भरती आह ॥१०॥

परिच्छेद ५७

भयप्रद कृत्यों का त्याग

१—राजा का कर्तव्य है कि वह दोषी को नापतौल कर ही दण्ड देवे, जिससे कि वह दुबारा वैसा कर्म न करे; फिर भी वह दण्ड सीमा के बाहिर न होना चाहिए।

२—जो अपनी शक्ति को स्थायी रखने के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि वे अपना शासनदण्ड तत्परता से चलावें, परन्तु उसका आघात कठोर न हो।

३—उस राजा को देखो, जो अपने लोहदण्ड द्वारा ही शासन करता है और अपनी प्रजा मे भय उत्पन्न करता है। उसका कोई भी मित्र न रहेगा और शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा।

४—जो राजा अपनी प्रजा में अत्याचार के लिए प्रसिद्ध है वह असमय में ही अपने राज्य से हाथ धो बैठेगा और उसका आयुष्य भी घट जायगा।

५—जिस राजा का द्वार अपनी प्रजा के लिए सदा बन्द है उसके हाथ में सम्पत्ति ऐसी लगती है मानों किसी राक्षस के द्वारा रखाई हुई कोई धनराशि हो।

६—जो राजा कठोर वचन बोलता है और क्षमा जिसकी प्रकृति में नहीं, वह चाहे वैभव में कितना ही बढ़ा चढ़ा हो तो भी उसका अन्त शीघ्र होगा।

७—कठोर शब्द और सीमातिक्रान्त-दण्ड वे अस्त्र हैं जो सत्ता की प्रतिष्ठा को छिन्नभिन्न कर देते हैं।

८—उस राजा को देखो, जो अपने मंत्रियों से तो परामर्श नहीं करता और अपनी योजनाओं के असफल होने पर आवेश में आ जाता है, उसका वैभव क्रमशः विलीन हो जायगा।

९—समय रहते, जो, अपनी रक्षा के साधनों को नहीं देखता उस राजा को क्या कहें ? जब उस पर सहसा आक्रमण होगा तो वह धैर्य खो बैठेगा और पकड़ा जावेगा तथा अन्त में उसका सर्वनाश शीघ्र ही होगा।

१०—उस कठोर शासन के सिवाय, जो मूर्ख और चापलूसों के परामर्श पर निर्भर है और कोई बड़ा भारी भार नहीं है जिसके कारण पृथ्वी कराहती है।

परिच्छेद ५८

विचार शीलता

कौन यहाँ है शीलसम, सुन्दर सुख का धाम ।
इससे ही इस सृष्टि के, चलें उचित सब काम ॥१॥
नर के केवल शील में, जीवन का शुभसार ।
कारण बनता अन्यथा, मानव पृथ्वीभार ॥२॥
गायन जिसका हो नहीं, कैसी वह है गीति ।
निर्मोही वे नेत्र क्या, दिखे न जिनमें प्रीति ॥३॥
पर आदर जिनमें नहीं, मात्रा के अनुसार ।
नहीं नयन वे आस्य में, बने एक आकार ॥४॥
सच मुच ऐसे नेत्र तो, शिर में केवल घाव ।
जिन में भूषण शील का, दिखे नहीं सद्भाव ॥५॥
आँखों में जिसकी नहीं, मान तथा संकोच ।
भला नहीं जड़मूर्ति से, वह देखो यदि सोच ॥६॥
सच मुच वे ही अन्ध हैं, जिन्हें न पर का ध्यान ।
सहन करें पर दोष को. वे ही लोचनवान ॥७॥
नहीं छिपा कर्तव्य को, जो करता पर-मान ।
भू भरके सब राज्यका, वारिस वह गुणवान ॥८॥
अहित करे उसको क्षमा, देकर करदे मुक्त ।
स्नेह करे यदि साथ तो, बड़ी उच्चता युक्त ॥९॥
शीलनेत्र यदि विश्व में, बनने का है ध्यान ।
जिसे मिलाया सामने, पीले वह विष तान ॥१०॥

परिच्छेद ५८

विचारशीलता

१—उस परम आनन्ददायक सुन्दरता को देखो, जिसे लोग शील कहते हैं। यदि यह जगत सुचारु रूपसे चल रहा है तो इसमें कारण एक शीलता ही है ।

२—जीवन की मनोहरताओं का शील में अस्तित्व रहता है, जो इसको नहीं रखते वे पृथ्वी के लिए भार हैं ।

३—उस गीत का क्या महत्व है जो गाया नहीं जाता और उस आँख का क्या महत्व है जो प्रेम नहीं दर्शाती ?

४—उन आँखों से क्या लाभ जो चेहरे में केवल दीखतीं हैं, यदि वे दूसरों के लिए मात्रा के अनुसार आदर नहीं दर्शातीं ।

५—शील आँख का भूषण है। जिस आँख मे यह नहीं होता वह केवल एक घाव ही समझा जायगा ।

६—उन लोगों को देखो जिनके आँखे हैं पर जो दूसरों के प्रति विल्कुल शील (लिहाज) नहीं रखते, निश्चय ही उन मूर्तियों से अच्छे नहीं हैं जो, काठ व मिट्टी की बनी हुई हैं ।

७—सचमुच ही वे अन्धे हैं जो दूसरों के प्रति आदर नहीं रखते और केवल वे ही वास्तव में देखते हैं जो दूसरों की गलतियों के प्रति दयालु रहते हैं ।

८—उस आदमी को देखो जो दूसरों के प्रति विना अपने किसी कर्तव्य को कम किये लिहाजदार रह सकता है, वह पृथ्वी को उत्तराधिकार में पा लेगा ।

९—यह उच्चता है कि जिसने तुमको दुःख दिया हो उसे तुम छोड़ दो और उसके साथ क्षमा का व्यवहार करो ।

१०—जो सत्य ही सुशील नेत्र वाला बनना चाहते हैं उनको वह विष भी पीना होगा जो उनकी आँखों के सामने ही मिलाया गया हो ।

परिच्छेद ५९

गुप्तचर

राज्यस्थिति के ज्ञान को, भूपति के दो नेत्र ।
पहिला उनमें 'नीति' है, दूजा 'चर' है नेत्र ॥१॥

राजा के कर्तव्य में, यह भी निश्चित काम ।
देखे नृप चरचक्षु से, नरचर्या प्रतियाम ॥२॥

चर से या निज दूत से, घटनाएँ विज्ञात ।
जिस नृप को होतीं नहीं, उसे विजय क्या तात ॥३॥

रिपु, बान्धव या भृत्य की, गति मति के बोधार्थ ।
रक्खे चर को नित्य नृप, जो दे बात यथार्थ ॥४॥

जिसकी मुखमुद्रा नहीं, करती कुछ सन्देह ।
वाक्यचतुर, निजमर्म का रक्षक चर गुणगेह ॥५॥

साधु तपस्वीवेश में, रक्षित करके मर्म ।
भाँति भाँति के यत्न से, साधे चर निजकर्म ॥६॥

लेने में परमर्म को, जो है सहज प्रवीण ।
जिसकी खोजें सत्य हों, वह ही प्रणिधि-धुरीण ॥७॥

पूर्व प्रणिधि[1] की सूचना, करे नृपति तब मान्य ।
उसमें परचर-उक्ति से, जब आवे प्रामाण्य ॥८॥

आपस में अज्ञात हों, ऐसे चर दें कार्य ।
तीन कहें जब एक से, तब समझो सच आर्य ॥९॥

पुरस्कार निजराज्य के, चर का करो न ख्यात ।
सर्वराज्य ही अन्यथा, होगा पर को ज्ञात ॥१०॥

---

१ गुप्तचर ।

परिच्छेद ५९

गुप्तचर

१—राजा को यह ध्यान में रखना चाहिए कि राजनीति और गुप्तचर ये दो आँखें हैं जिनसे वह देखता है।

२—राजा का काम है कि कभी कभी प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक बात की प्रतिदिन खबर रक्खे।

३—जो राजा गुप्तचरों और दूतों के द्वारा अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं की खबर नहीं रखता उसके लिए दिग्विजय नहीं है।

४—राजा को चाहिए कि अपने राज्य के कर्मचारियों, अपने बन्धु-बान्धवों और शत्रुओं की गतिमति को देखने के लिए गुप्तचर नियत कर रक्खे।

५—जो आदमी अपनी मुखमुद्रा का ऐसा भाव बना सके कि जिससे किसी को सन्देह न हो और किसी भी आदमी के सामने गड़-बड़ाये नहीं तथा जो अपने गुप्त भेदों को किसी तरह प्रगट न होने दे, भेदिया का काम करने के लिए वही ठीक आदमी है।

६—गुप्तचरों और दूतों को चाहिए कि वे साधु-सन्तों का वेश धारण करें और खोजकर सच्चा भेद निकाल लें, किन्तु चाहे कुछ भी हो जाय वे अपना भेद न बतावे।

७—जो मनुष्य दूसरों के पेट से भेद की बातें निकाल सकता है और जिसकी गवेषणा सदा शुद्ध तथा निस्सन्दिग्ध होती है वही भेद लगाने का काम करने लायक है।

८—एक गुप्तचर के द्वारा जो सूचना मिलती है, उसको दूसरे चर की सूचना से मिलाकर जांचना चाहिए।

९—इस बात का ध्यान रक्खो कि कोई गुप्तचर उसी काम में लगे हुए दूसरे गुप्तचर को न जानने पावे और जब तीन चरों की सूचनाएँ एक दूसरे से मिलती हों, तब उन्हें सच्चा मानना चाहिए।

१०—अपने गुप्तचरों को उजागर रूप में पुरस्कार मत दो, क्योंकि यदि तुम ऐसा करोगे तो अपने सारे राज्य का गुप्त रहस्य खोल दोगे।

परिच्छेद ६०

उत्साह

उत्साही नर ही सदा, हैं सच्चे धनवान ।
अन्य नहीं निजवित्त के, स्वामी गौरववान ॥१॥

सच्चा धन इस विश्व में, नर का ही उत्साह ।
अस्थिर वैभव अन्य सब, बहते काल-प्रवाह ॥२॥

साधन जिनके हाथ में, है अटूट उत्साह ।
क्या, निराश हों, धन्य वे, भरते दुःखद आह[1] ॥३॥

श्रम से भगे न दूर जो, देख विपुल आयास ।
खोज सदन उस धन्य का करता भाग्य निवास ॥४॥

तरुलक्ष्मी की साख ज्यों, देता नीर प्रवाह ।
भाग्यश्री की सूचना, देता त्यों उत्साह ॥५॥

लक्ष्य सदा ऊँचा रखो, यह ही चतुर सुनीति ।
सिद्धि नहीं जो भी मिले, तो भी मलिन न कीर्ति ॥६॥

हतोत्साह होता नहीं, हारचुका भी वीर ।
पैर जमाता और भी, गज खा तीखे-तीर ॥७॥

हो जावे उत्साह ही, जिसका क्रम से मन्द ।
उस नर के क्या भाग्य में, वैभव का आनन्द ॥८॥

सिंह देख गजराज का, जब मन ही मरजाय ।
कौन काम के दन्त तब, और बृहत्तर-काय ॥९॥

है अपार उत्साह ही, भू में शक्ति महान ।
हैं पशु ही उसके बिना, आकृति में असमान ॥१०॥

---

१ क्लेश ।

परिच्छेद ६०

उत्साह

१—वे ही सम्पत्तिशाली कहे जा सकते हैं जिनमें उत्साह है और जिनमें यह उत्साह नहीं है वे क्या वास्तव में अपने धन के स्वामी हैं ?

२—पुरुषार्थ ही यथार्थ में मनुष्य की सच्ची सम्पत्ति है, क्योंकि दूसरी सम्पति तो स्थायी नहीं रहती, वह तो मनुष्य के हाथ से एक दिन अवश्य ही चली जावेगी।

३—वे मनुष्य धन्य हैं, जिनके हाथ में अटूट उत्साह रूपी साधन है, उनको यह कहकर कभी निराश न होना पड़ेगा कि हाय! हाय! हमारा तो सर्वनाश हो गया।

४—धन्य है वह पुरुष जो परिश्रम से कभी पीछे नहीं हटता, भाग्य-लक्ष्मी उसके घर की राह पूछती हुई आती है।

५—झाड़ तथा पौधों को सींचने के लिए जो पानी दिया जाता है उससे जिस प्रकार अच्छी वहार का पता लगता है, उसी प्रकार आदमी का उत्साह उसके भाग्यशीलता का परिचायक है।

६—अपने उद्देश्यों को उदात्त वनाये रहो, कारण यदि वे विफल रहे तो भी तुम्हारे यश को कलङ्क न लगेगा।

७—साहसी पुरुष पराजित होने पर भी निरुत्साहित नहीं होते। हाथी तीखे वाणों के गहरे आघात होने पर अपने पैरों को और भी दृढ़ता से जमा देता है।

८—उन पुरुषों को देखो जिनका उत्साह शनैः शनैः क्षीण हो रहा है। अपार उदारता के वैभव का आनन्द उनके भाग्य में नहीं है।

९—जव हाथी सिंह को अपने ऊपर आक्रमण के लिए तैयार देखता है तव उसका हृदय वैठ जाता है। वताइये इतना वड़ा शरीर और उसके सुतीक्ष्ण लम्बे दाँत किस काम के ?

१०—अपार उत्साह ही शक्ति है। जिसमें उत्साह नहीं वे तो निरे पशु हैं, उनका मानवशरीर तो एक मात्र शारीरिक विशेषता को ही प्रगट करने वाला है।
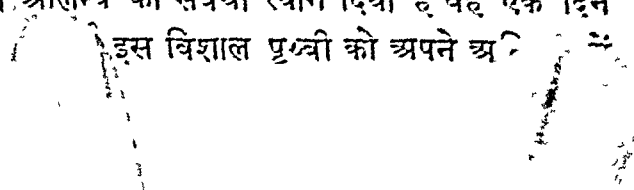
परिच्छेद ६१

आलस्य–त्याग

देखो है आलस्य भी, दूषित वायु प्रचण्ड ।
झोके से नृपवंश की, बुझती ज्योति अखण्ड ॥१॥

कहने दो तुम आलसी, पर परख, तजो स्त्यान[1] ।
निज का और स्ववंश का, यदि चाहो उत्थान ॥२॥

हत्यारे आलस्य की, जिस के मन में प्यास ।
देखेगा मतिमन्द वह, जीवित ही कुलनाश ॥३॥

जिनके कर आलस्य से, करें न उन्नति–कार्य ।
क्षीणगृही बन भोगते, वे संकट अनिवार्य ॥४॥

विस्मृति, निद्रा काल का यापन, ढील अपार ।
होतीं ये हतभाग्य की, उत्सवनौका चार ॥५॥

नहीं समुन्नति साध्य है, नर को जब आलस्य ।
राजकृपा भी प्राप्त कर, भू में वह उपहास्य ॥६॥

करें न जिन के हाथ कुछ, उन्नति के व्यापार ।
सहते वे नर आलसी, नित्य घृणा धिक्कार ॥७॥

जो कुटुम्ब आलस्य का, यहाँ बने आवास ।
शत्रुकरों में शीघ्र वह, पड़ता बिना प्रयास ॥८॥

अहो मनुज आलस्यमय, त्यागे जब ही पाप ।
आते संकट क्रूर भी, ठिटक जायँ तब आप ॥९॥

कर्मलीन हो भूप यदि, करे न रञ्च प्रमाद ।
छत्रतले वसुधा बसे, नपी त्रिविक्रम पाद ॥१०॥

---

१. सुस्ती ।

परिच्छेद ६१

आलस्य-त्याग

१—आलस्यरूपी अपवित्र वायु के झोके से राजवंश की अखण्ड ज्योति बुझ जायगी ।

२—लोगों को आलसी कहकर पुकारने दो ! पर जो अपने घराने को दृढ़ पाये पर उन्नत करना चाहते हैं उन्हें आलस्य के खरे स्वरूप को समझकर उसका त्याग कर देना चाहिए ।

३—जो लोग इस हत्यारे आलस्य को हृदय से लगाते हैं उन मूर्खों का वंश उनके जीवनकाल में ही नष्ट हो जायगा ।

४—जो लोग आलस्य में डूबकर उच्च तथा महान् कार्यों की ओर अपना हाथ नहीं बढ़ाते उनका घर क्षयकाल में पड़कर संकटग्रस्त हो जायगा ।

५—विनाश होना जिनके भाग्य में बदा है उनकी टालमटूल, विस्मृति सुस्ती, और निद्रा, ये चार उत्सव-नौकायें हैं ।

६—राजकृपा भी हो तो भी आलसी की उन्नति सम्भव नहीं है ।

७—जो लोग आलसी हैं और महत्त्वपूर्ण कार्यों में अपना हाथ नहीं बटाते उनको संसार में निन्दा और धिक्कार सुनने ही पड़ेंगे ।

८—जिस कुटुम्ब में आलस्य घर कर लेता है वह कुटुम्ब शीघ्र ही शत्रुओं के हाथ में पड़ जायगा ।

९—कभी किसी मनुष्य पर कुछ संकट आते हों और यदि वह उसी समय आलस्य का त्याग कर देवे तो वे संकट भी वहीं ठिटक जावेंगे ।

१०—जिस राजा ने आलस्य को सर्वथा त्याग दिया है वह एक दिन त्रिविक्रम [illegible] इस विशाल पृथ्वी को अपने अ[illegible] ले [illegible]

परिच्छेद ६२

पुरुषार्थ

हटो न पीछे कर्म से, कहकर उसे अशक्य ।
है समर्थ पुरुषार्थ जब, करने को सब शक्य ॥१॥

अहो सयाने भूलकर, करो न आधा कार्य ।
देगा तुम्हें न अन्यथा, आदर कोई आर्य ॥२॥

दुःखसमय भी साथ दे, वह नर गौरववान ।
सेवानिधि गिरवी धरे, तब पाता वह मान ॥३॥

पौरुष विना उदारता, क्लीब कृपाण समान ।
कारण अस्थिर एक से, खोते दोनों मान ॥४॥

जिसे न सुख की कामना, चाहे कर्म उदार ।
मित्रों का आभार वह, आँसू पोंछनाहार ॥५॥

क्रियाशीलता विश्व में, वैभव-जननी ख्यात ।
और अलस दारिद्र्यसम, दुर्बलता का तात ॥६॥

सचमुच ही आलस्य में, है दारिद्र्यनिवास ।
पर करती उद्योग में, कमला नित्य निवास ॥७॥

क्षीणविभव हो दैववश, क्या लज्जा की बात ।
श्रम से भगना दूर ही, है लज्जा की बात ॥८॥

भाग्य भले ही योगवश, चाहे हो प्रतिकूल ।
देता है पुरुषार्थ पर, सत्फल ही अनुकूल ॥९॥

रहे न निर्भर भाग्य पर, जो नर कर्मधुरीण ।
विधि भी रहते वाम वह, होता जयी प्रवीण ॥१०॥

परिच्छेद ६२

पुरुषार्थ

१—यह काम अशक्य है, ऐसा कहकर किसी भी काम से पीछे न हटो, कारण पुरुषार्थ अर्थात् उद्योग प्रत्येक काम में सिद्धि देने की शक्ति रखता है।

२—किसी काम को अधूरा छोड़ने से सावधान रहो, कारण अधूरा काम करने वालों की जगत में कोई चाह नहीं करता।

३—किसी के भी कष्ट के समय उससे दूर न रहने में ही मनुष्य का बड़प्पन है और उसको प्राप्त करने के लिए सभी मनुष्यों की हार्दिक सेवा रूप निधि (धरोहर) रखनी पड़ती है।

४—पुरुषार्थहीन की उदारता नपुंसक की तलवार के समान है, कारण वह अधिक समय तक टिक नहीं सकती।

५—जो सुख की चाह न कर कार्य को चाहता है वह मित्रों का ऐसा आधारस्तम्भ है जो उनके दुःख के आँसुओं को पोंछेगा।

६—उद्योगशीलता ही वैभव की माता है, पर आलस्य दारिद्र्य और दुर्बलता का जनक है।

७—कङ्गाली का घर निरुद्योगिता है; लेकिन जो आलस्य के फेर में नहीं पड़ता उसके परिश्रम में लक्ष्मी का नित्य निवास है।

८—यदि मनुष्य कदाचित वैभवहीन हो जावे तो कोई लज्जा की बात नही है, परन्तु जानबूझकर मनुष्य श्रम से मुख मोड़े यह बड़ी ही लज्जा की बात है।

९—भाग्य उल्टा भी हो तो भी उद्योग श्रम का फल दिये बिना नहीं रहता।

१०—जो भाग्यचक्र के भरोसे न रहकर लगातार पुरुषार्थ किये जाता है वह विपरीत भाग्य के रहने पर भी उस पर विजय प्राप्त करता है।

परिच्छेद ६३

संकट में धैर्य

करो हँसी से सामना, जब दे विपदा त्रास ।
विपदाजय को एक ही, प्रबल सहायक हास ॥१॥
अस्थिर भी एकाग्र हो, लेलेता जब चाप ।
क्षुब्ध जलधि भी दुःख का, दबजाता तब आप ॥२॥
विपदा को विपदा नहीं, माने जब नर आप ।
विपदा में पड़ लौटती, विपदाएँ तब आप ॥३॥
करे विपद का सामना, भैंसासम जी-तोड़ ।
तो उसकी सब आपदा, हटतीं आशा छोड़ ॥४॥
विपदा की सैना बड़ी, खड़ी सुसज्जित देख ।
नहीं तजै जो धैर्य को, डरें उसे वे देख ॥५॥
किया न उत्सव गेह में, जब था निजसौभाग्य ।
तब कैसे वह बोलता, हा आया 'दुर्भाग्य' ॥६॥
विज्ञ स्वयं यह जानते, विपदागृह है देह ।
विपदा में पड़कर तभी, बने न चिन्ता गेह ॥७॥
अटल नियम में सृष्टि के, गिनता है जो दुःख ।
उस अविलासी धीर को, बाधा से क्या दुःख ॥८॥
वैभव के वर-लाभ में, जिसे न अति आह्लाद ।
होगा उसके नाश में, क्योंकर उसे विषाद ॥९॥
श्रम दबाव या वेग में, माने जो नर मोद ।
फैलाते उस धीर की, अरि भी गुण-आमोद[1] ॥१०॥

---

१. सुगन्धि ।

परिच्छेद ६३

संकट में धैर्य

१—जब तुम पर कोई आपदा आ पड़े तो तुम हँसते हुए उसका सामना करो क्योंकि मनुष्य को आपत्ति का सामना करने के लिए सहायता देने में मुस्कान से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।

२—अनिश्चित मन का पुरुष भी मन को एकाग्र करके जब सामना करने को खड़ा होता है तो आपत्तियों का लहराता हुआ सागर भी दबकर बैठ जाता है।

३—आपत्तियों को जो आपत्ति नहीं समझते, वे आपत्तियों को ही आपत्ति में डालकर वापिस भेज देते हैं।

४—भैंसे की तरह हर एक संकट का सामना करने के लिए जो जी तोड़कर श्रम करने को तैयार है, उसके सामने विघ्न-बाधा आयेंगी पर निराश होकर अपना सा मुँह लेकर वापिस चली जायँगी।

५—आपत्ति की एक समस्त सेना को अपने विरुद्ध सुसज्जित खड़ी देखकर भी जिसका मन बैठ नहीं जाता, बाधाओं को उसके पास आने में स्वयं बाधा होती है।

६—सौभाग्य के समय जो हर्ष नहीं मनाते क्या वे कभी इस प्रकार का दुखौना कहते फिरेंगे कि हाय! हम नष्ट हो गये।

७—बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि यह देह तो विपत्तियों का घर है और इसीलिए जब उन पर कोई संकट आ जाता है तो वे उसकी कुछ पर्वाह नहीं करते।

८—जो आदमी भोगोपभोग की लालसा में लिप्त नहीं और जो जानता है कि आपत्तियां भी सृष्टि-नियम के अन्तर्गत हैं, वह बाधा पड़ने पर कभी दुःखित नहीं होता।

९—सफलता के समय जो हर्ष में मग्न नहीं होता, असफलता के समय उसे दुःख से घबराना नहीं पड़ता।

१०—जो आदमी परिश्रम के दुःख, दबाव और आवेग को सच्चा सुख समझता है उसके वैरी भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

परिच्छेद ६४

मंत्री

जाने सब ही कार्य के, अवसर और उपाय ।
तीक्ष्णबुद्धि वह भूप को, देवे मंत्रसहाय ॥१॥

दृढ़निश्चय, सद्वंश्यता, पौरुष, ज्ञान-अगार ।
प्रजोत्कर्ष को नित्यरुचि, सचिव गुणों का सार ॥२॥

भेद करे रिपुवर्ग में, मित्रों से अतिसख्य ।
सन्धिकला में दक्ष जो, वही सचिव है भव्य ॥३॥

साधन चुनने में कुशल, उद्यमप्रीति अपार ।
सम्मति दे सुस्पष्ट जो, मंत्री गुणमणिसार ॥४॥

नियम, क्षेत्र, अवसर जिसे, हों उत्तम विज्ञात ।
भाषणपटु हो प्राज्ञतम, योग्य सचिव वह ख्यात ॥५॥

प्राप्त जिसे स्वाध्याय से, प्रतिभा का आलोक ।
उस नर को दुर्ज्ञेय क्या, वस्तु अहो इस लोक ॥६॥

विद्या पढ़ कर भी बनो, अनुभव से भरपूर ।
और करो व्यवहार वह, अनुभव जहाँ न दूर ॥७॥

बाधक अथवा अज्ञ भी, नृप हो यदि साक्षात ।
तो भी मंत्री भूप को, बोले हित की बात ॥८॥

मंत्रभवन में मंत्रणा, जो दे नाशस्वरूप ।
सप्तकोटि रिपु से अधिक, वह अरि मंत्री रूप ॥९॥

बिना विचारे बुद्धि से, मनसूबे निस्सार ।
डग मग चंचल चित्तका, कर न सके व्यवहार ॥१०॥

परिच्छेद ६४

मंत्री

१—देखो, जो मनुष्य महत्वपूर्ण उद्योगों को सफलतापूर्वक सम्पादन करने के मार्गों और साधनों को जानता है तथा उनको आरम्भ करने के समुचित समय को पहिचानता है सलाह देने के लिए वही योग्य पुरुष है ।

२—स्वाध्याय, दृढ-निश्चय, पौरुष, कुलीनता और प्रजा की भलाई के निमित्त सप्रेम चेष्टा ये मन्त्री के पाँच गुण हैं ।

३—जिसमें शत्रुओं के अन्दर फूट डालने की शक्ति है जो वर्तमान मित्रता के सम्बन्धों को बनाये रख सकता है और जो वैरी बन गये हैं उनसे सन्धि करने की सामर्थ्य जिसमें है बस वही योग्य मन्त्री है ।

४—उचित उद्योगों को पसन्द करने और उनको कार्यरूप में परिणत करने के साधनों को चुनने की योग्यता तथा सम्मति देते समय निश्चयात्मक स्पष्टता ये परामर्शदाता के आवश्यक गुण हैं ।

५—जो नियमों को जानता है तथा विपुल ज्ञान से भरा है जो समझ बूझकर बात करता है और जिसे प्रत्येक प्रसंग की परख है बस वही तुम्हारे योग्य मन्त्री है ।

६—जो पुस्तकों के ज्ञान द्वारा अपनी स्वाभाविक बुद्धि की अभिवृद्धि कर लेते हैं, उनके लिए कौनसी बात इतनी कठिन है जो उनकी समझ मे न आ सके ।

७—पुस्तकी ज्ञानमें यद्यपि तुम सुदक्षहो फिर भी तुम्हें चाहिए कि तुम अनुभव जन्य ज्ञान प्राप्त करो औरउसके अनुसार व्यवहारकरो ।

८—सम्भव है कि राजा मूर्ख हो और पग पग पर उसके काम में अड़चने डाले फिर भी मन्त्री का कर्तव्य है कि वह सदा वही राह उसे दिखावे कि जो नियम संगत और समुचित हो ।

९—देखो, जो मन्त्री, मंत्रणा-गृह में बैठकर, अपने राजा का सर्वनाश करने की युक्ति सोचता है, वह सप्तकोटि वैरियों से भी अधिक भयंकर है ।

१०—चंचलचित्त का पुरुष सोचकर ठीक रीति निकाल भी ले परं उसे व्यावहारिक रूप देते हुए वह डगमगावेगा और अपने अभिप्राय को कभी पूरा न कर सकेगा ।

परिच्छेद ६५

वाक्-पटुता

वाक्पटुता भी एक है, बड़ा मधुर वरदान ।
नहीं किसी का अंश वह, है स्वतंत्र वरदान ॥१॥
जिह्वा में करते सदा, जीवन मृत्यु निवास ।
इससे बोलो सोचकर, वाणी बुध सोल्लास ॥२॥
बढ़ै और भी मित्रता, सुन जिसका परमार्थ ।
शत्रुहृदय भी खींचले, वाणी वही यथार्थ ॥३॥
पूर्व हृदय में तौल ले, वाणी पीछे बोल ।
धर्मवृद्धि इससे मिले, होवें लाभ अमोल ॥४॥
वाणी वह ही बोलिए, जो सब की हितकार ।
कटे नहीं जो अन्य से, पाकर वाद-प्रहार ॥५॥
मन खींचे दे वक्तृता, द्रुत समझे परभाव ।
वह नर ही नृपनीति में, रखता अधिक प्रभाव ॥६॥
व्याप्त न होता वाद में, जिसको भीति-विकार ।
सद्वक्ता उस धीर की, कैसे सम्भव हार ॥७॥
वाणी जिसकी ओजमय, परिमार्जित विश्वास्य ।
उस नर के संकेत पर, करती वसुधा लास्य[1] ॥८॥
परिमित शब्दों में नहीं, जिसे कथन का ज्ञान ।
उस में ही होती सदा, बहुभाषण की बान ॥९॥
समझा कर जो अन्य को, कह न सके निजज्ञान ।
गन्धहीन वह फूलसम, होता नर है भान ॥१०॥

---

१. नृत्य ।

परिच्छेद ६५

वाक् पटुता

१—वाक्-शक्ति निःसन्देह एक बड़ा वरदान है, क्योंकि वह अन्य वर-दानों का अंश नहीं किन्तु एक स्वतन्त्र वरदान है।

२—जीवन और मृत्यु जिह्वा के वश में हैं, इसलिए ध्यान रक्खो कि तुम्हारे मुँह से कोई अनुचित बात न निकले।

३—जो वक्तृता मित्रों को और भी घनिष्ठता के सूत्र में आबद्ध करती है और विरोधियों को भी अपनी ओर आकर्षित करती है, बस वही यथार्थ वक्तृता है।

४—हर एक बात को ठीक तरह से तौल कर देखो और फिर जो उचित हो वही बोलो, धर्मवृद्धि तथा लाभ की दृष्टि से इससे बढ़कर उपयोगी बात तुम्हारे पक्ष में और कोई नहीं है।

५—तुम ऐसी वक्तृता दो कि जिसे दूसरी कोई वक्तृता चुप न कर सके।

६—ऐसी वक्तृता देना कि जो श्रोताओं के हृदय को खींचले और दूसरों की वक्तृता के अर्थ को शीघ्र ही समझ जाना यह पक्के राजनीतिज्ञ का कर्तव्य है।

७—जो आदमी सुवक्ता है और जो गड़बड़ाना या डरना नहीं जानता, विवाद में उसको हरा देना किसी के लिए संभव नहीं।

८—जिसकी वक्तृता परिमार्जित और विश्वासोत्पादक भाषा से सुसज्जित होती है सारी पृथ्वी उसके संकेत पर नाचेगी।

९—जो लोग अपने मन की बात थोड़े से चुने हुए शब्दों मे कहना नहीं जानते वास्तव में उन्हीं को अधिक बोलने की आदत होती है।

१०—जो लोग अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान को समझा कर दूसरों को नहीं बता सकते वे उस फूल के समान हैं जो खिलता है परन्तु सुगन्धि नहीं देता।

परिच्छेद ६६

शुभाचरण

सफल बनें तब कार्य सब, जब होवें वर मित्र ।
फलतीं पर सब कामना, जब आचार पवित्र ॥१॥
कीर्ति नहीं जिस काम से, और न कुछ भी लाभ ।
ऐसे से रह दूर ही, बड़ी इसी में आभ ॥२॥
यदि चाहो संसार में, अपनी उन्नति तात ।
त्यागो तब उस कार्य को, करता जो यशघात ॥३॥
संकट में भी शुद्ध है, जिनकी बुद्धि ललाम ।
ओछे और आकीर्तिकर, करें नहीं वे काम ॥४॥
जिस पर पश्चाताप हो, करे नहीं वह आर्य ।
और किया तो भूल से, करे न फिर वह कार्य ॥५॥
भद्रपुरुष की दृष्टि में, जो हैं निन्दा-धाम ।
जननी के रक्षार्थ भी, करो न बुध वे काम ॥६॥
न्यायी का दारिद्रय भी, होता शोभित तात ।
वैभव भी नयहीन का, रुचे नहीं पर भ्रात ॥७॥
त्याज्य कहे भी शास्त्र में, जो नर करे अकार्य ।
शान्ति नहीं उसको मिले, यद्यपि हो कृतकार्य ॥८॥
रुला रुला कर द्रव्य जो, होती संचित तात ।
क्रन्दनध्वनि के साथ वह, चपला सी छिप जात ॥
धर्ममूल जो सम्पदा, पुण्यहेतु विख्यात ।
कृश भी यदि हो मध्य में, अन्त फले वह तात ॥९॥(युग्म)
कच्चे घट में नीर का, भरना ज्यों है व्यर्थ ।
माया से कर वञ्चना, जोड़ा त्यों ही अर्थ ॥१०॥

परिच्छेद ६६

शुभाचरण

१—मित्रता द्वारा मनुष्य को सफलता मिलती है किन्तु आचरण की पवित्रता उसकी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण कर देती है।

२—उन कामों से सदा विमुख रहो कि जिनसे न सुकीर्ति मिलती है और न लाभ होता है।

३—जो लोग संसार में उन्नति करना चाहते हैं उन्हें ऐसे कार्यों से सदा दूर रहना चाहिए जिनसे कीर्ति में कलङ्क लगने की संभावना हो।

४—बुरा काल आने के पश्चात् भी जो लोग सत्य को नहीं छोड़ते उन मनुष्यों को देखो, वे क्षुद्र और अकीर्तिकारक कर्मों से सदा दूर रहते हैं।

५—यह मैंने क्या किया ! इस प्रकार पछतावा देने वाले कर्म मनुष्य को कभी नहीं करने चाहिए और यदि किये हों तो भविष्य में वैसे कर्म करना उसे श्रेयस्कर नहीं।

६—भले आदमी जिन बातों को बुरा बतलाते हैं, मनुष्य को चाहिए कि जननी की रक्षा के लिए भी उन्हें न करे।

७—निन्द्यकर्मों द्वारा एकत्र की हुई सम्पत्ति की अपेक्षा तो सदाचारी पुरुष की निर्धनता कहीं अच्छी है।

८—धर्मशास्त्र में जो काम हेय बताये गये हैं उनको भी जो नहीं छोड़ते ऐसे मनुष्यों को देखो, वे चाहे सफल मनोरथ भी हो गये हों तो भी उन्हें शान्ति नहीं मिलेगी।

९—लोगों को रुलाकर जो सम्पत्ति इकट्ठी की जाती है, वह क्रन्दन ध्वनि के साथ ही विदा हो जाती है, पर जो धर्म द्वारा संचित की जाती है वह बीच में क्षीण हो जाने पर भी अन्त में खूब फूलती फलती है।

१०—छल छिद्र द्वारा संचित किया हुआ धन ऐसा ही है जैसे कि मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी भरकर रखना।

परिच्छेद ६८

कार्य-सञ्चालन

निश्चय की ही प्राप्ति को, करते विज्ञ विचार ।
निश्चय ही जब हो चुका, फिर विलम्ब निस्तार ॥१॥

शीघ्र कार्य को शीघ्र ही, करो विबुध सज्ञान ।
पर विलम्ब सहकार्य तब, जब मन शान्तिनिधान ॥२॥

लक्ष्य ओर सीधे चलो, देख समय अनुकूल ।
चलो सहज वह मार्ग तब, जब हो वह प्रतिकूल ॥३॥

अपराजित वैरी बुरा, और अधूरा काम ।
शेष-अग्निसम वृद्धि पा, बनते विपदा-धाम ॥४॥

द्रव्य, क्षेत्र, साधन, समय, और स्वरूपविचार ।
करले पहिले, कार्य फिर, करे विबुध विधिवार ॥५॥

श्रम इस में कितना अधिक, कितना लाभ अपूर्व ।
बाधा क्या क्या आयँगी, सोचे नर यह पूर्व ॥६॥

मर्मविज्ञ के पास जा, पूछो पहिले मर्म ।
कार्यसिद्धि के अर्थ यह, कहते विज्ञ सुकर्म ॥७॥

गज को गज ही फाँसता, वन में जैसे एक ।
एक कार्य वैसा करो, जिससे सधें अनेक ॥८॥

मित्रों के भी मान से, यह है अधिक विशुद्ध ।
करलो रिपु को शीघ्र ही, क्षोभ रहित मन शुद्ध ॥९॥

भला नहीं चिरकाल तक, दुर्बल संकटग्रस्त ।
इससे दुर्बल काल पा, करले सन्धि प्रशस्त ॥१०॥

परिच्छेद ६८

कार्य-सञ्चालन

१—किसी निश्चय पर पहुँचना यही विचार का उद्देश्य है और जब किसी बात का निश्चय हो गया तब उसको कार्यरूप में परिणत करने में विलम्ब करना भूल है।

२—जिन कामों को सावकाश होकर कर सकते हो उनको तुम पूर्ण-रीति से सोच विचार कर करो, किन्तु तत्कालोचित कार्यों के लिए तो क्षण भर भी देर न करो।

३—यदि परिस्थिति अनुकूल हो तो सीधे अपने लक्ष्य की ओर चलो, किन्तु परिस्थिति अनुकूल न हो तो उस मार्ग का अनुसरण करो जिसमें सबसे कम बाधाएँ आने की सम्भावना हो।

४—अधूरा काम और अपराजित शत्रु ये दोनों बिना बुझी आग की चिनगारियों के समान हैं, वे समय पाकर बढ़ जायगे और उस असावधान आदमी को आ दबोचेंगे।

५—प्रत्येक कार्य को करते समय पांच बातों का पूरा ध्यान रक्खो अर्थात् उपस्थित साधन, औजार, कार्य का स्वरूप, समु चत समय और कार्य करने का उपयुक्त स्थान।

६—काम करने में कितना परिश्रम पड़ेगा, मार्ग में कितनी बाधाएँ आयँगी और फिर कितने लाभ की आशा है, इन बातों को पहिले सोच लो, पीछे किसी काम को हाथ में लो।

७—किसी भी काम मे सफलता प्राप्त करने का यही मार्ग है कि जो मनुष्य उस काम में दक्ष है उससे उस काम का रहस्य मालूम कर लेना चाहिए।

८— लोग एक हाथी के द्वारा दूसरे हाथी को फँसाते हैं, ठीक इसी प्रकार एक काम को दूसरे काम का साधन बना लेना चाहिए।

९—मित्रों को पारितोषिक देने से भी अधिक शीघ्रता के साथ वैरियों को शान्त कर लेना चाहिए।

१०—दुर्बलों को सदा संकट की स्थिति में नहीं रहना चाहिए, बल्कि जब अवसर मिले तब उन्हें बलवान के साथ संधि कर लेनी चाहिए।

परिच्छेद ६९

राज-दूत

जन्मा हो वर-वंश में, मन से दयानिधान ।
नृपमण्डल को मोद दे दूत वही गुणवान ॥१॥

स्वामि-भक्ति, प्रज्ञाप्रखर, भाषण कलाअधान ।
दूतों में ये तीन गुण, होते बहुत महान ॥२॥

प्रभुहित का जिसने लिया, नृपमण्डल में भार ।
प्राज्ञों में वह प्राज्ञ हो, वचन सुधामय सार ॥३॥

मुखमुद्रा जिसकी करे, नर पर अधिक प्रभाव ।
उस बुध का दूतत्व पर, दिखता योग्य चुनाव ॥४॥

दूत सदा संक्षेप में, कहकर साधे काम ।
अप्रिय-वाणी त्याग कर, बोले वचन ललाम ॥५॥

विद्वत्ता समयज्ञता, वाणी भरी-प्रभाव ।
आशुबुद्धि ये दूत में, गुण रखते सद्भाव ॥६॥

स्थान समय कर्तव्य की, जिसको है पहिचान ।
बोले पहिले सोचकर, वह ही दूत महान ॥७॥

जो स्वभाव से लोक में, हृदयाकर्षक आर्य ।
दृढ़प्रतिज्ञ वह विज्ञ ही, करे दूत के कार्य ॥८॥

कहे न अनुचित बात जो, पाकर भी आवेश ।
ले जावे पर राष्ट्र में, वह ही नृपसन्देश ॥९॥

नहीं हटे कर्तव्य से, रख संकट में प्राण ।
लाख यत्न से दूतवर, करता प्रभुहित त्राण ॥१०॥

परिच्छेद ६९

राज-दूत

१—दयालु हृदय, उच्च कुल और राजाओं को प्रसन्न करने की रीतियाँ ये सब राज-दूतों की विशेषताएँ हैं ।

२—स्वामिभक्ति, सुतीक्ष्णबुद्धि और वाक्-पटुता ये तीनों बातें राज-दूत के लिए अनिवार्य हैं ।

३—जो मनुष्य राजाओं के समक्ष अपने स्वामी को लाभ पहुँचाने वाले शब्दों को बोलने का भार अपने शिर लेता है उसे विद्वानों में परमविद्वान् होना चाहिए ।

४—व्यावहारिक-ज्ञान, विद्वत्ता और प्रभावोत्पादक मुखमुद्रा ये बातें जिसमें हों उसी को राज-दूत के नाम पर बाहिर जाना चाहिए ।

५ संक्षिप्त वक्तृता, वाणी की मधुरता और सावधानी के साथ अप्रिय-भाषा का त्याग, ये ही साधन हैं जिनके द्वारा राज-दूत अपने स्वामी को लाभ पहुँचाता है ।

६—विद्वता, प्रभावोत्पादक वक्तृता शान्तवृत्ति और समयसूचकता प्रगट करने वाली सुसंयत प्रत्युत्पन्नमति, ये सब राज-दूत के आवश्यक गुण हैं ।

७—वही सबसे योग्य राज-दूत है जिसको समुचित क्षेत्र और समुचित समय की परख है, जो अपने कर्तव्य को जानता है तथा जो बोलने से पहिले अपने शब्दों को जांच लेता है ।

८—जो मनुष्य दूत कर्म के लिए भेजा जाय वह दृढ़-प्रतिज्ञ, पवित्र-हृदय और चित्ताकर्षक स्वभाव वाला होना चाहिए ।

९—जो दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष अपने मुख से हीन और अयोग्य वचन कभी नहीं निकलने देता विदेशी दरबारों में राजाओं के सन्देश सुनाने के लिए वही योग्य पुरुष है ।

१०—मृत्यु का सामना होने पर भी सच्चा राज-दूत अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता बल्कि अपने स्वामी के कार्य की सिद्धि के लिए पूरा [illegible] है ।

परिच्छेद ७०

राजाओं के समक्ष व्यवहार

नहीं निकट अति ही रहो, और न अति ही दूर ।
नृप को सेवो अग्नि सम, जो चाहो सुख पूर ॥१॥

नृप चाहे जिस वस्तु को, करो न उसकी साध ।
उससे वैभवप्राप्ति का, यह ही मंत्र अबाध ॥२॥

इष्ट नहीं यदि भूप का, बनना कोपाधार ।
तो कुदोष सब त्याग दो, कारण भ्रम दुर्वार ॥३॥

नृपके जब हो पास में, करो न तब कुछ हास्य ।
कानाफूसी भी नहीं, और न विकृत आस्य ॥४॥

छुपकर सुनो न भूलकर, नृप की कोई बात ।
और गुह्य के ज्ञान को, करो प्रयत्न न तात ॥५॥

नृप की कैसी वृत्ति है, कैसा अवसर तात ।
बोलो यह सब सोचकर, मोदजनक ही बात ॥६॥

नृप को जिससे हर्ष हो, बोलो वह ही बात ।
पूछे तो भी बोल मत, कभी निरर्थक बात ॥७॥

नववय या सम्बन्ध से, तुच्छ न मानो भूप ।
कारण वह, नरदेव है, उससे भय हितरूप ॥८॥

न्यायी निर्मलवृत्ति के, नर से नृप जब तुष्ट ।
करे न ऐसा कार्य तब, जिससे नृप हो रुष्ट ॥९॥

नृप से मानघनिष्ठता, समझ उसे या मित्र ।
जो नर करें कुकर्म वे, मिटते बड़े विचित्र ॥१०॥

परिच्छेद ७०

राजाओं के समक्ष व्यवहार

१—जो कोई राजाओं के साथ रहना चाहता है, उसको चाहिए कि वह उस आदमी के समान व्यवहार करे, जो आग के सामने बैठकर तापता है, उसको न तो अति समीप जाना चाहिए न अति दूर।

२—राजा जिन वस्तुओं को चाहता है उनकी लालसा न रखो, यही उसकी स्थायी कृपा प्राप्त करने और उसके द्वारा समृद्धिशाली बनने का मूल मंत्र है।

३—यदि तुम राजा की अप्रसन्नता में पड़ना नहीं चाहते तो तुमको चाहिए कि हर प्रकार के गम्भीर दोषों से सदा शुद्ध रहो, क्योंकि यदि एक बार भी सन्देह पैदा हो गया तो फिर उसे दूर करना असम्भव हो जाता है।

४—राजा के सामने लोगों से काना-फूसी न करो और न किसी दूसरे के साथ हँसो या मुस्कराओ।

५—छिपकर राजा की कोई बात सुनने का प्रयत्न न करो और जो बात तुम्हें नहीं बताई गई है उसका पता लगाने की चेष्टा भी न करो। जब तुम्हें बताया जाय तभी उस भेद को जानो।

६—राजा की मनोवृत्ति इस समय कैसी है, इस बात को समझ लो और क्या प्रसंग है इस को भी देखलो, तब ऐसे शब्द बोलो जिनसे वह प्रसन्न हो।

७—राजा के सामने उन्हीं बातों की चर्चा करो जिनसे वह प्रसन्न हो, पर जिन बातों से कुछ लाभ नहीं है उन निरर्थक बातों की चर्चा राजा के पूछने पर भी न करो।

८—राजा नवयुवक है और तुम्हारा सम्बन्धी अथवा नातेदार है इस लिए तुम उसको तुच्छ मत समझो, बल्कि उसके अन्दर जो ज्योति विराजमान है उसके सामने भय मान कर रहो।

९—जिनकी दृष्टि निर्मल और निर्द्वन्द है वे यह समझकर कि हम राजा के कृपापात्र हैं कभी कोई ऐसा काम नहीं करते जिससे राजा असन्तुष्ट हो।

१०—जो मनुष्य राजा की घनिष्टता और मित्रता पर भरोसा रखकर अयोग्य काम कर बैठते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

परिच्छेद ७१

मुखाकृति से मनोभाव समझना।

मनोभाव जो जानले, भाषण के ही पूर्व ।
मेधावी वह धन्य है पृथ्वीतिलक अपूर्व ॥१॥
प्रतिभा-बल से जानले, जो मन के सब भेद ।
पृथ्वी में वह देवता, मानो यहीं प्रभेद ॥२॥
आकृति से ही भाँप ले, जो नर पर के भाव ।
बहुयत्नों से मंत्रणा, लो उसकी रख चाव ॥३॥
अज्ञ मनुज तो उक्त हीं, जाने चतुर अनुक्त ।
आकृति यद्यपि एकसी, फिर भी भिन्न प्रयुक्त ॥४॥
जो आँखें जाने नहीं, नर के हृद्गत भाव ।
ज्ञानेन्द्रिय में व्यर्थ ही, है उनका सद्भाव ॥५॥
पड़ती जैसे स्फटिक पर, वर्ण वर्ण की छाप ।
त्यों ही हार्दिक भाव भी, झलकें मुख पर आप ॥६॥
भावपूर्ण मुख से नहीं, बढ़कर कोई वस्तु ।
हर्ष कोप सब से प्रथम, कहती यह ही वस्तु ॥७॥
बिना कहे ही जान ले, जो नर पर के भाव ।
दर्शन उसका सिद्धि दे, ऐसा पुण्यप्रभाव ॥८॥
निपुण पारखी भाव का, यदि होवे नर आप ।
तो केवल वह चक्षु से, राग घृणा ले भाँप ॥९॥
जो नर हैं इस विश्व में, भद्र धूर्त विख्यात ।
उनकी आँखें आप ही, कहतीं उनकी बात ॥१०॥

परिच्छेद ७१

मुखाकृति से मनोभाव समझना

१—जो मनुष्य दूसरे के मुख से निकलने के पहिले ही उसके मनकी बात को जान लेता है वह जगत के लिए अलंकारस्वरूप है ।

२—हार्दिक भाव को विश्वस्त रूप से जान लेने वाले मनुष्य को देवता समझो ।

३—जो लोग किसी आदमी की आकृति देखकर ही उसके अभिप्राय को ताड़ जाते हैं ऐसे लोगों को चाहे जैसे बने वैसे अपना सलाहकार बनाओ ।

४—जो मनुष्य बिना कहे ही मनकी बात समझ लेते हैं उनकी आकृति तथा मुखमुद्रा वैसी ही हो सकती है जैसी कि न समझ सकने वालों की होती है, फिर भी उन लोगों का वर्ग दूसरा ही है ।

५—जो आँखें एक ही दृष्टि में दूसरे के मनोगत भावों को नहीं भाँप सकतीं उनकी इन्द्रियों में विशेषता ही क्या ?

६—जिस प्रकार स्फटिक मणि अपना रंग बदल कर पास वाले पदार्थ का रंग धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार मनोगत भाव से मनुष्य की मुखमुद्रा भी बदल जाती है और हृदय में जो बात होती है उसी को प्रगट करने लगती है ।

७—मुखचर्या से बढ़कर भावपूर्ण वस्तु और कौन सी है ! क्योंकि अन्तरंग क्रुद्ध है या अनुरागी, इस बात को सबसे पहिले वह ही प्रगट करती है ।

८—यदि तुम्हें ऐसा आदमी मिल जाय जो बिना कहे ही चित्त की बात परख सकता हो, तो बस इतना ही पर्याप्त है कि तुम उसकी ओर एक दृष्टि भर देख लो, तुम्हारी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जायँगी ।

९—यदि ऐसे लोग हों जो उसके हाव भाव और रंग ढंग को समझ सकें तो अकेली आंख ही यह बात बतला सकती है कि हृदय मे घृणा है अथवा प्रेम !

१०—जो लोग जगत मे धूर्त या भद्र प्रसिद्ध हैं उनका माप और कुछ नहीं केवल उनकी आंखें ही हैं ।

परिच्छेद ७२

श्रोताओं का निर्णय

वचनकला सीखो प्रथम, रखो सुरुचि का ध्यान ।
श्रोताओं का भाव लख, दो वैसा व्याख्यान ॥१॥

हे शब्दों के पारखी, सद्वक्ता आचार्य ।
पहिले देखो श्रोतृमन, फिर दो भाषण आर्य ॥२॥

श्रोताओं के चित्त जो, नहीं परखता योग्य ।
वचनकला-अनभिज्ञ वह, नहीं किसी के योग्य ॥३॥

प्राज्ञों में ही ज्ञान की, चर्चा उत्तम तात ।
मूर्खों में पर मूर्खता, समझ करो तुम बात ॥४॥

मान्यजनों के सामने, करो न बढ़कर बात ।
वाणी-संयम धन्य है, उज्ज्वल गुण विख्यात ॥५॥

जो मनुष्य यदि हो नहीं, वक्ता सफल समर्थ ।
तो सभ्यों में भ्रष्टसम, रखे नहीं कुछ अर्थ ॥६॥

गुणियों के दरबार में, गुणमणि का भण्डार ।
विद्वज्जन हैं खोलते, रुचि रुचि के अनुसार ॥७॥

प्राज्ञों को निजज्ञान का, देना मानो दान ।
जीवित-तरु को सींचकर, करना और महान ॥८॥

भाषण से निजकीर्ति के, इच्छुक हे गुणवान ।
कभी न दो तुम भूल कर, अज्ञों में व्याख्यान ॥९॥

भिन्नपक्ष के सामने, भाषण का है अर्थ ।
मानों मलिन प्रदेश में, सुधा-वृष्टि सा व्यर्थ ॥१०॥

परिच्छेद ७२

श्रोताओं का निर्णय

१—जिसने वक्तृता का उत्तम अभ्यास किया है और सुरुचि प्राप्त कर ली है उसे प्रथम श्रोताओं की पूरी परख करनी चाहिए पीछे उनके अनुरूप भाषण देना चाहिए।

२—ए! शब्दों का मूल जानने वाले पवित्र पुरुषो! पहिले अपने श्रोताओं की मानसिक स्थिति को समझ लो और फिर उपस्थित जनसमूह की अवस्था के अनुसार अपनी वक्तृता देना आरम्भ करो।

३—जो व्यक्ति श्रोतृवर्ग के स्वभाव का अध्ययन किये विना भाषण देते हैं वे भाषणकला जानते ही नहीं और न वे किसी अन्य कार्य के लिए उपयोगी हैं।

४—बुद्धिमान् और विद्वान् लोगों की सभा में ही ज्ञान और विद्वत्ता की चर्चा करो, किन्तु मूर्खों को उनकी मूर्खता का ध्यान रखकर ही उत्तर दो।

५—धन्य है वह आत्म-संयम जो मनुष्य को वृद्ध जनों की सभा में आगे बढ़कर नेतृत्व ग्रहण करने से मना करता है! यह एक ऐसा गुण है जो अन्य गुणों से भी अधिक समुज्ज्वल है।

६—बुद्धिमान् लोगों के सामने असमर्थ और असफल सिद्ध होना धर्ममार्ग से पतित हो जाने के समान है।

७—विद्वानों की विद्वत्ता अपने पूर्ण तेज के साथ सुसम्पन्न गुणियों की सभा में ही चमकती है।

८—बुद्धिमान् लोगों के सामने उपदेशपूर्ण व्याख्यान देना जीवित पौधों को पानी देने के समान है।

९—ए! वक्तृता से विद्वानों को प्रसन्न करनेकी इच्छा रखने वाले लोगो! देखो, कभी भूलकर भी मूर्खों के सामने व्याख्यान न देना।

१०—अपने से मतभेद रखने वाले व्यक्तियों के समक्ष भाषण करना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार अमृत को मलिन स्थान पर डाल देना।

परिच्छेद ७३

सभा में प्रौढ़ता

वाक्कला को सीखकर, सद्रुचि जिसके पास ।
विज्ञों में खुलकर वही, करता वचन-विलास ॥१॥

सुदृढ़ रहे सिद्धान्त पर, विज्ञों में जो विज्ञ ।
विबुध उसे ही मानते, प्राज्ञों में सद्विज्ञ ॥२॥

बड़े बड़े गम्भीर भट, मिलते शूर अनेक ।
सभा बीच निर्भीक हो वक्ता कोई एक ॥३॥

खुलकर दो विज्ञानधन, विज्ञों को हे विज्ञ ।
सीखो जो अज्ञात हो, उनसे, जो हों विज्ञ ॥४॥

संशयछेदक तर्क का, भलीभाँति लो ज्ञान ।
कारण दे तर्कज्ञ ही, निर्भय हो व्याख्यान ॥५॥

शक्तिहीन के हाथ ज्यों, शस्त्र न आवे काम ।
विज्ञों में भयभीत की, त्यों विद्या बेकाम ॥६॥

श्रोताओं से भीत का, लगे उसी विध ज्ञान ।
जैसे रण में क्लीव के, कर में दिखे कृपाण ॥७॥

कह न सके निजज्ञान जो, विबुधों में विधिवार ।
सर्वमुखी पाण्डित्य भी, तो उसका निस्सार ॥८॥

प्राज्ञों में आते अहो, जिनकी गति हो बन्द ।
ऐसे ज्ञानी हैं अधिक, अज्ञों से भी मन्द ॥९॥

जाते ही जन संघ में, होकर भीति विशिष्ट-
कह न सके सिद्धान्त, वे-जीवित मृतक अशिष्ट ॥१०॥

परिच्छेद ७३

सभा में प्रौढ़ता

१—जिन व्यक्तियों ने भाषणकला का अध्ययन किया है और सुरुचि प्राप्त की है वे जानते हैं कि भाषण किस प्रकार देना चाहिए और वे बुद्धिमान् श्रोताओं के समक्ष भाषण देने में किसी प्रकार की चूक नहीं करते।

२—जो व्यक्ति ज्ञानी मनुष्यों के समुदाय में अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रह सकता है वही विद्वानों में विद्वान् माना जाता है।

३—रणक्षेत्र में खड़े होकर वीरता के साथ मृत्यु का सामना करने वाले लोग तो बहुत हैं परन्तु ऐसे लोग बहुत ही थोड़े हैं जो बिना काँपे श्रोताओं के समक्ष सभामञ्च पर खड़े हो सकें।

४—तुमने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसको विद्वानों के सामने खोल कर रक्खो और जो बात तुम्हें मालूम नहीं है वह उन लोगों से सीख लो जो उसमें दक्ष हों।

५—तर्कशास्त्र को तुम भली प्रकार सीख लो जिससे कि मानव समुदाय के सामने बिना भयातुर हुए बोल सको।

६—उन व्यक्तियों के लिए कृपाण की क्या उपयोगिता है जिनमें शक्ति ही नहीं है, इसी प्रकार उन मनुष्यों के लिए शास्त्र का क्या उपयोग जो कि विद्वानों के समक्ष आने में ही काँपते हैं?

७—श्रोताओं के सामने आने में भयभीत होने वाले व्यक्ति का ज्ञान उसी प्रकार है जैसे युद्धक्षेत्र में नपुंसक के हाथ कृपाण।

८—जो लोग विद्वानों की सभा में अपने सिद्धान्त श्रोताओं के हृदय में नहीं बिठा सकते उनका अध्ययन चाहे कितना ही विस्तृत हो फिर भी वह निरुपयोगी ही है।

९—जो मनुष्य ज्ञानी हैं लेकिन विद्वज्जनों के सामने आने में डरते हैं वे अज्ञानियों से [illegible] होते हैं।

१०—जो व्यक्ति भ[illegible] सामने आने में डरते हैं [illegible] सिद्धान्तों का [illegible] में असमर्थ हैं वे मृतकों-से भी [illegible]

परिच्छेद ७४

देश

बढ़ी चढ़ी कृषि हो जहाँ, धार्मिक हों धनवान ।
ज्ञानमूर्ति ऋषिवर्ग हो, वह ही देश महान ॥१॥

धन से मोहे विश्व को, होवे स्वास्थ्यनिदान ।
अन्नवृद्धि को ख्यात जो, वह ही देश महान ॥२॥

सहे धैर्य से वार को, कर को पूर्ण निधान ।
वीरों की जो भूमि हो, वह ही देश महान ॥३॥

रोग–मरी–दुर्भिक्ष का, जहाँ न आता ध्यान ।
रक्षित हो सब ओर से, वह ही देश महान ॥४॥

बटा नहीं जो फूट से, खण्ड–खण्ड में देश ।
विपलवकारी क्रूरजन, बसें नहीं जिस देश ॥
और न देशद्रोह ही, होता हो कुछ भान ।
जिस में ऐसी श्रेष्ठता, वह ही देश महान ॥५॥ (युग्म)

नहीं लुटा जो शत्रु से, वह ही रत्न समान ।
लुटकर भी या भाग्यवश, रखता आय महान ॥६॥

आवश्यक ज्यों देश को, कूप नदी नदनीर ।
त्यों ही उसको चाहिए, पर्वत दुर्ग सवीर ॥७॥

स्वास्थ्य विभव उत्तम मही, रक्षा हर्षप्रभात ।
ये पांचों प्रतिदेश को, भूषणसम हैं ख्यात ॥८॥

सहज जहाँ आजीविका, वह ही उत्तम देश ।
तुलना में उसकी नहीं, जुड़ते अन्य प्रदेश ॥९॥

यद्यपि होवें देश में, अन्य सभी वरदान ।
पर उत्तम नृपके विना, नहीं रखें वे मान ॥१०॥

परिच्छेद ७४

देश

१—यह महान् देश है जो फसल की पैदावार मे कभी नहीं चूकता और जो ऋषि-मुनियों तथा धार्मिक धनिकों का निवासस्थान हो।

२—वही श्रेष्ठ देश है जो धन की विपुलता से जनता का प्रीतिभाजन हो और घृणित रोगों से मुक्त होकर समृद्धिशाली हो ।

३—उस महान् राष्ट्र की ओर देखो, उस पर कितने ही बोझ के ऊपर बोझ पड़ें वह उन्हें धैर्य के साथ सहन करेगा और साथ ही सारे कर अर्पण करेगा ।

४—वही देश उच्च है जो अकाल और महामारी जैसे रोगों से उन्मुक्त है तथा जो शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षित है ।

५—वही उत्तम देश है जो परस्पर युद्ध करने वाले दलों में विभक्त नहीं है, जो हत्यारे क्रान्तिकारियों से रहित है और जिसके भीतर राष्ट्र का सर्वनाश करने वाला कोई देशद्रोही नहीं है ।

६—जो देश शत्रुओं के हाथ से कभी विध्वस्त नहीं हुआ और यदि कदाचित हो भी गया तो भी जिसकी पैदावार में थोड़ीसी भी कमी नहीं आती, वह देश जगत के सब देशों मे रत्न माना जायगा।

७—पृथ्वी के ऊपर और भीतर वहने वाला जल, वर्षाजल, उपयुक्त-स्थान को प्राप्त पर्वत और सुदृढ़ दुर्ग ये प्रत्येक देश के लिए अनिवार्य हैं ।

८—धन सम्पत्ति, उर्वराभूमि, प्रजा को सुख, निरोगिता और शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षा, ये पांच बातें राष्ट्र के लिए आभूषण-स्वरूप हैं ।

९—वही अकेला, देश कहलाने योग्य है जहाँ मनुष्यों के परिश्रम किये विना ही प्रचुर पैदावार होती है। जिसमें आदमियों के परिश्रम करने पर ही पैदावार हो वह इस पद का अधिकारी नहीं है।

१०—यदि किसी देश में ये सब उत्तम बातें विद्यमान भी हों फिर भी वे किसी काम की नहीं यदि उस देश का राजा ठीक न हो ।

परिच्छेद ७५

दुर्ग

निर्बल की रक्षार्थ गढ़, यदि है प्रबल सहाय ।
तो पाते बलवान भी, न्यून नहीं सदुपाय ॥१॥

अद्रि, नीर, मरुभूमि, वन, और परिधि के दुर्ग ।
रक्षक ये हैं राष्ट्र के, सब ही सीमा दुर्ग ॥२॥

दृढ़ ऊँचा विस्तीर्ण हो, रिपु से और अजेय ।
दुर्गों के निर्माण में, ये सब गुण हैं ज्ञेय ॥३॥

दुर्ग प्रवर वह ही जहाँ, हो यथेष्ट विस्तार ।
दृढ़ता में अन्यून हो, करे विफल रिपु वार ॥४॥

रक्षा और अजेयता, सबविध वस्तुप्रबन्ध ।
ये गुण रखते दुर्ग से, आवश्यक सम्बन्ध ॥५॥

है यथार्थ वह ही किला, रक्षक जिसके वीर ।
धान्यादिक से पूर्ण जो, रखता उत्तम नीर ॥६॥

धावा कर या घेर कर, या सुरङ्ग से खण्ड ।
करके, जिसे न जीतते, वह ही दुर्ग प्रचण्ड ॥७॥

घेरा देकर भी जिसे, थकजाते अरि वीर ।
बल देते निज सैन्य को, गढ़ के दृढ़ प्राचीर ॥८॥

वह ही सच्चा दुर्ग है, जिसके बलपर वीर ।
सीमापर ही शत्रु को, करदें भिन्न-शरीर ॥९॥

पूर्ण सुसज्जित दुर्ग भी, हो जाता बेकाम ।
रक्षक फुर्ती त्याग कर, करते यदि विश्राम ॥१०॥

परिच्छेद ७५

दुर्ग

१—दुर्बलों के लिए, जिन्हें केवल अपने बचाव की ही चिन्ता होती है, दुर्ग बहुत ही उपयोगी होते हैं, परन्तु बलवान् और प्रतापी के लिए भी वे कम उपयोगी नहीं हैं।

२—जल, प्राकार, मरुभूमि, पर्वत और सघन, वन ये सब नाना प्रकार के रक्षणात्मक सीमा-दुर्ग हैं।

३—ऊँचाई, मोटाई, मजबूती और अजेयपन ये चार गुण हैं, जो निर्माणकला की दृष्टि से किलों के लिए अनिवार्य हैं।

४—वह गढ़ सबसे उत्तम है, जो थोड़ी भी जगह भेद्य न हो, साथ ही विस्तीर्ण हो और जो लोग उसे लेना चाहें उनके आक्रमणों को रोकने की जिसमें क्षमता हो।

५—अजेयत्व, दुर्गस्थ सैन्य के लिए रक्षणात्मक सुविधा, रसद तथा अन्य सामग्री का प्रचुर मात्रा में संग्रह, ये सब दुर्ग के लिए आवश्यक बातें हैं।

६—वही सच्चा किला है जिसमें हर प्रकार का सामान पर्याप्त परिमाण में विद्यमान हो और जो ऐसे लोगों के संरक्षण में हो कि जो किले को बचाने के लिए वीरतापूर्वक लड़ें।

७—निस्सन्देह वह सच्चा गढ़ है कि जिसे न तो कोई घेरा डालकर जीत सके, न अचानक हमला करके और न कोई जिसे सुरङ्ग लगाकर ही तोड़ सके।

८—वही वास्तविक दुर्ग है जो अपने भीतर लड़ने वालों को पूर्ण बलशाली बनाता है और घेरा डालने वालों के अटूट उद्योगों को विफल कर देता है।

९—वही खरा दुर्ग है जो नाना प्रकार के विकट साधनों द्वारा अजय्य बन गया है और जो अपने संरक्षकों को इस योग्य बनाता है कि वे वैरियों को किले की सुदूर सीमा पर ही मार कर गिरा सकें।

१०—यदि रक्षक सैन्यवर्ग समय पर फुर्ती से काम न ले तो चाहे दुर्ग कितना ही सुदृढ़ हो किसी काम का नहीं।

परिच्छेद ७६

धनोपार्जन

धन भी अद्भुत वस्तु है उस सम अन्य न द्रव्य ।
बनता जिससे रंक भी, धन्य प्रतिष्ठित भव्य ॥१॥
निर्धन का सर्वत्र ही, होता है अपमान ।
धनशाली पर विश्व में, पाता है सन्मान ॥२॥
धन भी है इस लोक में, एक अखण्ड प्रकाश ।
तम में वह भी चन्द्रसम, करता नित्य उजाश ॥३॥
शुद्धरीति से आय हो, न्याय तथा हो प्रोत ।
तो धन से बहते सदा, पुण्यसुखद वर स्रोत ॥४॥
जिस धन में करुणा नहीं, और न प्रेमनिवास ।
उसका छूना पाप है, इच्छा विपदाग्रास ॥५॥
दण्ड, मृतक, कर, युद्ध धन, विविध शुल्क की आय ।
भूप-कोप की वृद्धि में, ये हैं पांच सहाय ॥६॥
है दयालुता प्रेम की, संतति स्वर्ग-उपाय ।
पालन को करुणा भरी, सम्पद उसकी धाय ॥७॥
धनिक न होवे कार्य रच, चिन्ता में अवरुद्ध ।
वह देखे गिरिशृङ्ग से, मानो गज का युद्ध ॥८॥
रिपुजय की यदि चाह तो, करलो सञ्चित अर्थ ।
कारण जय को एक ही, यह है शस्त्र समर्थ ॥९॥
संचित है जिसने किया, पौरुष से प्रचुरार्थ ।
करयुग में उसके धरे, शेष युगल पुरुषार्थ ॥१०॥

परिच्छेद ७६

धनोपार्जन

१—अप्रसिद्ध और अप्रतिष्ठित लोगों को प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित बनाने में धन जितना समर्थ है, उतना और कोई पदार्थ नहीं ।

२—गरीबों का सभी अपमान करते हैं, पर धनसमृद्ध की सभी जगह अभ्यर्थना होती है ।

३—वह अविश्रान्त ज्योति जिसे लोग धन कहते हैं, अपने स्वामी के लिए सभी अन्धकारमय स्थानों को ज्योत्स्नापूर्ण बना देती है ।

४—जो धन पाप रहित निष्कलंक रूप से प्राप्त किया जाता है, उससे धर्म और आनन्द का स्रोत वह निकलता है ।

५—जो धन, दया और ममता से रहित है, उसकी तुम कभी इच्छा मत करो और उसको कभी अपने हाथ से छुओ भी मत ।

६—दण्ड द्रव्य, विना वारिस का धन, कर का माल, लगान की सम्पत्ति और युद्ध में प्राप्त धन ये सब राजकोप की वृद्धि करने वाले हैं ।

७—दयालुता, जो प्रेम की सन्तति है, उसका पालन पोषण करने के लिए सम्पत्ति रूपिणी दयार्द्रहृदया धाय की आवश्यकता है ।

८—देखो धनवान् आदमी जब अपने हाथ में काम लेता है तो वह उस मनुष्य के समान मालूम होता है कि जो एक पहाड़ की चोटी पर से हाथियों की लड़ाई देखता है ।

९—धन का संचय करो क्योंकि शत्रु का गर्व चूर करने के लिए उससे बढ़कर दूसरा हथयार नहीं है ।

१०—देखो जिसने बहुत सा धन एकत्रित कर लिया है, शेप दो पुरुषार्थ धर्म और काम उसके करतलगत हैं ।

परिच्छेद ७७

सेना के लक्षण

शिक्षित, दृढ़, अतिकष्ट में, जिसे न व्यापे दैन्य ।
नृपसंग्रह में श्रेष्ठ जो, वह है उत्तम सैन्य ॥१॥

अनगिनते अरि-वार हों, हो नैराश्य महान ।
फिर भी रखते पूर्णभट, रक्षा का अवधान ॥२॥

गर्जें यदि वे सिन्धु सम, तो गर्जो क्या हानि ?
भगते अहि-फुँकार से, सब मूँसे धर ग्लानि ॥३॥

भ्रष्ट न हो कर्तव्य से, जिसे न परिचित हार ।
दिखा चुकी जो वीरता, वह ही सेना सार ॥४॥

कुपितकाल से युद्ध का, रखते हैं जो मान ।
वे ही रखते वीरवर, सेनापद का मान ॥५॥

लोकप्रतिष्ठा, वीरता, पूर्वरणों का ज्ञान ।
बुद्धिविभव ये सैन्य के, रक्षक कवच समान ॥६॥

ढूँढ़त फिरते वीरगण, वैरी को सब ओर ।
समझें वे अरि, वार कर, हारेगा कर जोर ॥७॥

सज्जित यदि सेना नहीं, या धावे की स्फूर्ति ।
ओज तेज विद्या विभव, करते उसकी पूर्ति ॥८॥

न्यून नहीं संख्या जहाँ, और न अर्थाभाव ।
उस सेना के पक्ष में, रक्षित जय-सद्भाव ॥९॥

नायक विना न कोई भी, बनती सेना एक ।
यद्यपि उसमें हों भले, सैनिक वीर अनेक ॥१०॥

परिच्छेद ७७

सेना के लक्षण

१—राजा के संग्रहों में सर्वश्रेष्ठ वस्तु, वह सेना है जो कि सुशिक्षित बलवान् और संकट में निर्भीक रहने वाली हो।

२—अनेकों आक्रमणों के होते हुए, भयंकर निराशा-जनक स्थिति की रक्षा, मँजे हुए वीर सिपाही ही अपने अटल निश्चय के द्वारा कर सकते हैं।

३—यदि वे समुद्र के समान गर्जते भी हों तो इससे क्या हुआ? काले नाग की एक ही फुँकार में चूहों का सारा झुण्ड का झुण्ड विलीन हो जायगा।

४—जो सेना हारना जानती ही नहीं और जो कभी कर्तव्यभ्रष्ट नहीं की जा सकती तथा जिसने बहुत से अवसरों पर वीरता दिखाई है वास्तव में वही, 'सेना' नाम की अधिकारिणी है।

५—यथार्थ में सेना का नाम उसी को शोभा देता है कि जो वीरता के साथ यमराज का भी सामना कर सके, जबकि वह अपनी पूर्ण प्रचण्डता के साथ सामने आवे।

६—शूरता, प्रतिष्ठा, शिक्षित मस्तक और पिछले समय की लड़ाइयों का इतिहास, ये चार बातें सेनाकी रक्षा के लिए कवचस्वरूप हैं।

७—जो सच्ची सेना है वह सदा शत्रुओं की खोज में रहती है, क्योंकि उसको पूर्ण विश्वास है कि जब कोई वैरी लड़ाई करेगा तो वह उसे अवश्य जीत लेगी।

८—जब सेना में मुस्तैदी और एकाएक प्रचण्ड आक्रमण करने की शक्ति नहीं होती तब प्रतिष्ठा, तेज और विद्या सम्बन्धी योग्यतायें उसकी कमी को पूरा कर देती हैं।

९—जो सेना संख्या में कम नहीं है और जिसको वेतन न पाने के कारण भूखों नहीं मरना पड़ता वह सेना विजयी होगी।

१०—सिपाहियों की कमी न होने पर भी कोई सेना नहीं बन सकती, जब तक कि उसका सञ्चालन करने के लिए सेनापति न हो।

परिच्छेद ७८

वीर योद्धा का आत्मगौरव

रे रे प्रभु के वैरियो, मत अकड़ो ले वान ।
बहुतेरे अरि युद्ध कर, पड़े चिता-पाषान ॥१॥

भाला यदि है चूकना, गज पर, तो भी मान ।
लगकर भी शश पर नहीं, देना शर सन्मान ॥२॥

साहस ही है वीरता, रण में वह यमरूप ।
शरणागतवात्सल्य भी, दूजा सुभग स्वरूप ॥३॥

भाला गज में घूँस निज, फिरे ढूँढ़ता अन्य ।
देख उसे निजगात्र से खींचे वह भट धन्य ॥४॥

रिपु भाले के वार से, झपजावे यदि दृष्टि ।
इससे बढ़कर वीर को, क्या हो लज्जा-सृष्टि ॥५॥

जिन दिवसों में वीर को, लगें न गहरे घाव ।
उन दिवसों का व्यर्थ ही, मानें वे सद्भाव ॥६॥

प्राणों का तज मोह जो, चाहे कीर्ति अपार ।
पग की बेड़ी भी उसे, बनती शोभागार ॥७॥

युद्ध समय जिसको नहीं, अन्तक[1] से भी भीति ।
नायक के आतंक से, तजे न वह भटनीति ॥८॥

करते करते साधना, जिसका जीवन मौन ।
हो जावे, उस वीर को, दोषविधायक कौन ॥९॥

स्वामी जिसको देख कर, भरदे आँखों नीर ।
भिक्षा से या चाटु से, लो, वह मृत्यु सुवीर ॥१०॥

---

१. मृत्यु ।

परिच्छेद ७८

वीर योद्धा का आत्मगौरव

१—अरे ए वैरियो! मेरे स्वामी के सामने युद्ध में खड़े न होओ क्योंकि पहिले भी उसे बहुत से लोगों ने युद्ध के लिए ललकारा था, पर आज वे सब चिता के पाषाणों में पड़े हुए हैं।

२—हाथी के ऊपर चलाया गया भाला यदि चूक भी जाय तब भी उसमें अधिक गौरव है अपेक्षा उस बाण के जो खरगोश पर चलाया गया हो और वह उस को लग भी गया हो।

३—वह प्रचण्ड साहस जो प्रबल आक्रमण करता है, उसी को लोग वीरता कहते हैं, लेकिन उसका गौरव उस हार्दिक औदार्य में है कि जो अधःपतित शत्रु के प्रति दिखाया जाता है।

४—एक योद्धा ने अपना भाला हाथी के ऊपर चला दिया और वह दूसरे भाले की खोज मे जा रहा था कि इतने में उसने एक भाला अपने शरीर में ही घुसा हुआ देखा और ज्यों ही उसने उसे बाहिर निकाला वह प्रसन्नता से मुस्करा उठा।

५—वीर पुरुष के ऊपर भाला चलाया जावे और उसकी आंख तनिक भी झपक मार जावे तो क्या यह उसके लिए लज्जा की बात नहीं है?

६—शूरवीर सैनिक जिन दिनों अपने शरीर पर गहरे घाव नहीं खाता है, वह समझता है कि वे दिन व्यर्थ नष्ट हो गये।

७—देखो, जो लोग अपने प्राणों की परवाह नहीं करते बल्कि पृथ्वी भर में फैली हुई कीर्ति की कामना करते हैं, उनके पांव की बेड़ियाँ भी आँखों को आल्हादकारक होती हैं।

८—जो वीर योद्धा, युद्धक्षेत्र मे मरने से नहीं डरते वे अपने सेना-पति की कड़ाई करने पर भी सैनिक नियमों को नहीं छोड़ते।

९—अपने हाथ मे लिए हुए काम को सम्पादन करने के उद्योग में जो लोग अपने प्राण गवाँ देते हैं उनको दोष देने का किसको अधिकार है?

१०—यदि कोई आदमी ऐसा मरण पा सके कि जिसे देखकर उसके मालिक की आँख से आंसू निकल पड़ें तो भीख मांगकर तथा विनय प्रार्थना करके भी ऐसी मृत्यु को प्राप्त करना चाहिए।

परिच्छेद ७९

मित्रता

सन्मैत्री की प्राप्तिसम, कौन कठिन है काम ।
उस समान इस विश्व में, कौन कवच बलधाम ॥१॥

मैत्री होती श्रेष्ठ की, बढ़ते चन्द्र समान ।
ओछे की होती वही, घटते चन्द्र समान ॥२॥

सत्पुरुषों की मित्रता, है स्वाध्याय समान ।
प्रति दिन परिचय से जहाँ, झलकें सद्गुणखान ॥३॥

केवल मनोविनोद को, नहीं करें बुध प्रीत ।
भर्त्सित कर भी मित्र को, ले आते शुभरीति ॥४॥

सदा साथ चलना नहीं, और न बारम्बार ।
मिलना, मैत्री हेतु है, मन ही मुख्याधार ॥५॥

'मैत्रीगृह' गोष्ठी नहीं, होता जिस में हास्य ।
मैत्री होती प्रेम से, जो हरती औदास्य ॥६॥

अशुभमार्ग से दूर कर, करदे कर्म पवित्र ।
दुःख समय भी साथ जो, वही मित्र सन्मित्र ॥७॥

उड़ते पट को शीघ्र ही, ज्यों पकड़ें कर दौड़ ।
मित्रकष्ट में मित्र त्यों, आते पल में दौड़ ॥८॥

मैत्री मन की एकता, वहीं प्रीतिदरबार ।
निज-पर के उत्कर्ष को, जहाँ विवेक-विचार ॥९॥

मैत्री या वह रङ्कता, जिस में कार्य-हिसाब ।
मैत्री का फिर गर्व भी, रखे नहीं कुछ भाव ॥१०॥

परिच्छेद ७१

मित्रता

१—जगत में ऐसी कौनसी वस्तु है जिसका प्राप्त करना इतना कठिन है जितना कि मित्रता का ? और शत्रुओं से रक्षा करने के लिए मित्रता के समान अन्य कौन सा कवच है ?

२—योग्य पुरुप की मित्रता बढ़ती हुई चन्द्रकला के समान है, पर मूर्ख की मित्रता घटते हुए चन्द्रमा के सदृश है ।

३—सत्पुरुषों की मित्रता दिव्यग्रन्थों के स्वाध्याय के समान है। जितनी ही उनके साथ तुम्हारी घनिष्ठता होती जायगी उतने ही अधिक रहस्य तुम्हें उनके भीतर दिखाई पड़ने लगेंगे ।

४—मित्रता का उद्देश्य हँसी-विनोद करना नहीं है, बल्कि जब कोई बहक कर कुमार्ग में जाने लगे तो उसको रोकना और उसकी भर्त्सना करना ही मित्रता का लक्ष्य है ।

५—बार बार मिलना और सदा साथ रहना इतना आवश्यक नहीं है, यह तो हृदयों की एकता ही है कि जो मित्रता के सम्बन्ध को स्थिर और सुदृढ़ बनाती है ।

६—हँसी-मसकरी करने वाली गोष्ठी का नाम मित्रता नहीं है, मित्रता तो वास्तव में वह प्रेम है जो हृदय को आल्हादित करता है।

७—जो मनुष्य तुम्हें बुराई से बचाता है, सुमार्ग पर चलाता है और जो संकट के समय तुम्हारा साथ देता है बस वही मित्र है।

८—देखो, उस आदमी का हाथ कि जिसके कपड़े हवा से उड़ गये हैं कितनी तेजो के साथ फिरसे अपने अंग को ढकने के लिए फुर्ती करता है ? यही सच्चे मित्र का आदर्श है जो विपत्ति में पड़े हुए मित्र की सहायता के लिए दौड़कर आता है ।

९—मित्रता का दरबार कहाँ पर लगता है ! बस वहीं पर कि जहाँ दो हृदयों के बीच में अनन्य प्रेम और पूर्ण एकता है तथा दोनों मिलकर हर एक प्रकार से एक दूसरे को उच्च और उन्नत बनाने की चेष्टा करें ।

१०—जिस मित्रता का हिसाब लगाया जा सकता है उसमें एक प्रकार का कंगलापन होता है। वे चाहे कितने ही गर्वपूर्वक कहें कि मैं उसको इतना प्यार करता हूँ और वह मुझे इतना चाहता है ।

परिच्छेद ९०

मित्रता के लिए योग्यता की परख

बिना विचारे अन्य से, मैत्री करना भूल ।
कारण करके त्यागना, भद्रों के प्रतिकूल ॥१॥

बिना विवेक विचार की, मैत्री विपदारूप ।
प्राणक्षय के साथ यह, मिटे असाताकूप ॥२॥

कैसा कुल, कैसी प्रकृति, किन किन से सम्बन्ध ?
देखो उसकी योग्यता, यही प्रीति अनुबन्ध ॥३॥

जन्मा हो वर-वंश में, और जिसे अघभीति ।
देकरके कुछ मूल्य भी, करलो उससे प्रीति ॥४॥

झिड़क सके जो चूक पर, जाने शुभ आचार ।
ऐसे नर की मित्रता, खोजो सर्वप्रकार ॥५॥

विपदा में माना हुआ, गुण है एक अनूप ।
विपदा जैसा नापगज, नापे मित्रस्वरूप ॥६॥

इसमें ही कल्याण है, हे नर तेरा आप ।
मत कर मैत्री मूर्ख से, दुर्गति को जो शाप ॥७॥

निरुत्साह औदास्य के, करो न कभी विचार ।
और तजो वे बन्धु जो, दुःख समय निस्सार ॥८॥

सब सुख भोगे साथ पर, दुःख समय छलनीति ।
मृत्यु समय भी दाह दे, ऐसे शठ की प्रीति ॥९॥

शुद्धहृदय के आर्य से, करलो मैत्री आर्य ।
तज दो मैत्री भेंट धर, यदि हो मित्र अनार्य ॥१०॥

परिच्छेद ८०

मित्रता के लिए योग्यता की परख

१—इससे बढ़कर अप्रिय वात और कोई नहीं है कि विना परीक्षा किये किसी के साथ मित्रता करली जाय, क्योंकि एक वार मित्रता हो जाने पर सहृदय पुरुष फिर उसे छोड़ नहीं सकता।

२—जो पुरुष पहिले आदमियों की जांच किये विना ही उनको मित्र वना लेता है वह अपने शिर पर ऐसी आपत्तियों को वुलाता है कि जो केवल उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त होंगी।

३—जिस मनुष्य को तुम अपना मित्र वनाना चाहते हो उसके कुल का उसके गुण दोषों का, कौन कौन लोग उसके साथी हैं और किन किनके साथ उसका सम्वन्ध है इन वातों का अच्छी तरह से विचार कर लो और उसके पश्चात् यदि वह योग्य हो तो उसे मित्र वना लो।

४—जिस पुरुष का जन्म उच्च कुल मे हुआ है और जो अपयश से डरता है उसके साथ, आवश्यकता पड़े तो मूल्य देकर भी मित्रता करनी चाहिए।

५—ऐसे लोगों को खोजो और उनके साथ मित्रता करो कि जो सन्मार्ग को जानते हैं और तुम्हारे वहक जाने पर तुम्हें झिड़क कर तुम्हारी भर्त्सना कर सकें।

६—आपत्ति में एक गुण है—वह एक नापदण्ड है जिससे तुम अपने मित्रों को नाप सकते हो।

७—निस्सन्देह मनुष्य का लाभ इसी में है कि वह मूर्खों से मित्रता न करे।

८—ऐसे विचारों को मत आने दो जिनसे मन निरुत्साह तथा उदास हो और न ऐसे लोगों से मित्रता करो कि जो दु:ख पड़ते ही तुम्हारा साथ छोड़ देंगे।

९—जो लोग संकट के समय धोखा दे सकते हैं उनकी मित्रता की स्मृति मृत्यु के समय भी हृदय में दाह पैदा करती हैं।

१०—पवित्र लोगों के साथ वड़े चाव से मित्रता करो, लेकिन जो अयोग्य हैं उनका साथ छोड़ दो, इसके लिए चाहे तुम्हें कुछ भेंट भी देना पड़े।

परिच्छेद ८१

घनिष्ट मित्रता

मैत्री वही घनिष्ट है, जिस में दो अनुरूप ।
आत्मा को अर्पण करें, प्रेमी को रुचिरूप ॥१॥

बुधसम्मत वह मित्रता, जिसमें यह वर्ताव ।
स्वाश्रित दोनों पक्ष हों, रखें न साथ दवाव ॥२॥

मित्रवस्तु पर मित्र का, दिखे नहीं कुछ स्वत्व ।
तो मैत्री किस मूल्य की, और रखे क्या तत्व ॥३॥

बिना लिये ही राय कुछ, कर लेवे यदि मित्र ।
तो प्रसन्न होता अधिक, सचमुच गाढ़ा मित्र ॥४॥

कष्ट मिले यदि मित्र से, तो उसका भावार्थ ।
या तो वह अज्ञान है, या मैत्री सत्यार्थ ॥५॥

एकहृदय सन्मित्र का, सच्चे तजें न साथ ।
नाशहेतु होवे भले, चाहे उसका साथ ॥६॥

जिस पर है चिरकाल से, मन में अति अनुराग ।
करदे यदि वह हानि तो, होता नहीं विराग ॥७॥

मित्र नहीं सन्मित्र पर, सहता दोषारोप ।
फूले उसदिन मित्र जब, हरले अरि आटोप ॥८॥

जिसके हृदयहिमाद्रि से, प्रेमसिन्धु की धार ।
बहे निरन्तर एकसी, उसे विश्व का प्यार ॥९॥

चिरमित्रों के साथ भी, शिथिल न जिसका प्रेम ।
ऐसे मानवरत्न को, अरि भी करते प्रेम ॥१०॥

परिच्छेद ८१

घनिष्ट मित्रता

१—वही मैत्री घनिष्ट है जिसमें अपने प्रीतिपात्र की मर्जी के अनुकूल व्यक्ति अपने को समर्पित करदे।

२—सच्ची मित्रता वही है जिसमें मित्र आपस में स्वतंत्र रहें और एक दूसरे पर दबाव न डालें। विज्ञजन ऐसी मित्रता का कभी भी विरोध नहीं करते।

३—वह मित्रता किस काम की, जिसमें मित्रता के नाम पर ली गई किसी काम की स्वतन्त्रता में सहमति न हो।

४—जब कि दो व्यक्तियों में प्रगाढ़ मैत्री है उनमें से एक दूसरे की अनुमति के विना ही कोई काम कर लेता है तो दूसरा मित्र आपस के प्रेम का ध्यान करके उससे प्रसन्न ही होगा।

५—जब कोई मित्र ऐसा काम करता है जिसमें तुम्हें कष्ट होता है तो समझ लो कि वह मित्र तुम्हारे साथ या तो परिपूर्ण मैत्री का अनुभव करता है या फिर अज्ञानी है।

६—सच्चा मित्र अपने अभिन्न मित्र को नहीं छोड़ सकता, भले हो वह उसके विनाश का कारण क्यों न हो।

७—जो व्यक्ति किसी को हृदय से और दीर्घकाल से प्रेम करता है वह अपने मित्र को घृणा नहीं कर सकता, भले ही वह उसे बार बार हानि क्यों न पहुँचाता हो।

८—उन व्यक्तियों के लिए जो अपने अभिन्न मित्र के विरुद्ध किसी प्रकार का आरोप सुनने से इनकार कर देते हैं, वह दिवस बड़ा आनन्दप्रद होता है जब कि उसका मित्र आरोपकों को हानि पहुँचाता है।

९—जो व्यक्ति दूसरे को अटूट प्रेम करता है उसे सारा संसार प्रेम करता है।

१० जो व्यक्ति पुराने मित्रों के प्रति भी अपने प्रेम में अन्तर नहीं आने देते उन्हें शत्रु भी स्नेह की दृष्टि से देखते हैं।

परिच्छेद ८२

विघातक मैत्री

करे प्रगट तो बाह्य में, हम में प्रीति अपार ।
पर भीतर कुछ भी नहीं, है अनिष्ट आसार ॥१॥

पाँव पड़े जब स्वार्थ हो, स्वार्थ विना अति दूर ।
मैत्री ऐसे धूर्त की, क्या होती गुणपूर ॥२॥

लाभदृष्टि से सख्य कर, बोले मृदुलालाप ।
तो वेश्या या चोर की, अधम श्रेणि में आप ॥३॥

भगता ज्यों है दुष्ट हय, पटक सुभट रणखेत ।
विपदा में त्यों झोंक कर, भगता शठ तज हेत ॥४॥

वह निकृष्ट, जो छोड़ता, विश्वासी सन्मित्र ।
संकट के खोटे समय, कपटी बने अमित्र ॥५॥

जड़ मैत्री से प्राज्ञ का, दिखता भला विरोध ।
कारण तुलना के लिए, गुण करते उपरोध ॥६॥

स्वार्थी और खुशामदी, इनकी प्रीति असाधु ।
शत्रुघृणा उससे कहीं, है असह्य भी साधु ॥७॥

जो तेरे सत्कार्य में, करे विघ्न बन आग ।
मत कह उससे धीर कुछ, धीरे मैत्री त्याग ॥८॥

कहता तो कुछ अन्य है, करे और ही रूप ।
स्वप्न में भी मित्रता, ऐसे की विषरूप ॥९॥

सावधान उससे कभी, मैत्री करो न तात ।
भीतर जोड़े हाथ पर, बाहिर निन्दक ख्यात ॥१०॥

परिच्छेद ८२

विघातक मैत्री

१—उन व्यक्तियों की मैत्री विघातक ही होती है जो दिखाने को तो यह दिखाते हैं कि वे न जाने कितना प्रेम करते हैं, लेकिन उनके हृदय में प्रेम नहीं होता।

२—उन अभागे नराधमों से सजग रहो कि जो अपने लाभ के लिए तुम्हारे पैरों पर पड़ने के लिए तैयार हैं, पर जब तुमसे उनका कुछ स्वार्थ न निकलेगा तो वे तुम्हें छोड़ देंगे। भला ऐसों की मैत्री रहे या न रहे इससे क्या आता जाता है ?

३—देखो, जो लोग यह सोचते हैं कि हमें उस मित्र से कितना मिलेगा, वे उस श्रेणी के लोग हैं कि जिनमें चोरों और बाजारू औरतों की गिनती है।

४—कुछ आदमी उस अक्कड़ घोड़े की तरह होते हैं कि जो युद्धक्षेत्र में अपने सवार को गिराकर भाग जाता है। ऐसे लोगों से मैत्री रखने की अपेक्षा तो अकेले रहना ही हजारगुना अच्छा है।

५—जो निकृष्ट व्यक्ति अपने विश्वासपात्र मित्र को उसकी आवश्यकता के समय छोड़ देता है, ऐसे व्यक्ति से मित्रता करने की अपेक्षा न करना कहीं अच्छा है।

६—बुद्धिमानों से शत्रुता, मूर्खों की मित्रता की अपेक्षा लाखगुनी अच्छी है।

७—चाटुकार और स्वार्थी लोगों की मित्रता से शत्रुओं की घृणा सौगुनी अच्छी है।

८—जिस समय तुम कोई ऐसा काम करने में लगे हो जिसे तुम पूरा कर सकते हो उस समय यदि कोई तुम्हारे मार्ग में रोड़े अटकाता है तो उससे तुम एक शब्द भी न कहो, बल्कि धीरे धीरे उससे सम्बन्ध छोड़ दो।

९—जो व्यक्ति कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं उनकी मित्रता की कल्पना स्वप्न में भी करना बुरा है।

१०—सावधान! उन लोगों से जरा भी मित्रता न करना कि जो पास में बैठकर तो मीठी मीठी बातें करते हैं पर बाहिर जन-समाज में निन्दा करते हैं।

परिच्छेद ८३

कपट-मैत्री

मित्रभाव तो शत्रु का, अहो 'निहाई' जान ।
पीटेगा वह काल पा, तुमको धातु समान ॥१॥

भीतर जिस के द्रोह हो, पर ऊपर अनुराग ।
नारी-मनसम शीघ्र ही, होता उसे विराग ॥२॥

नर में चाहे शुद्धि हो, चाहे ज्ञान प्रगाढ़ ।
फिर भी यह संभव नहीं, शत्रु घृणा दे काढ़ ॥३॥

हँसकर बोले सामने, पर भीतर है नाग ।
डरो सदा उस दुष्ट से, यदि हो जीवन-राग ॥४॥

हृदय नहीं हो सर्वथा, जिनका तेरे पास ।
मनमोहक बातें कहें, करो न पर, विश्वास ॥५॥

मित्रतुल्य मीठे वचन, बोले बारम्बार ।
फिर भी पल में शत्रु तो, खुलजाता विधिवार ॥६॥

झुकजावे फिर भी कभी. करो न रिपु-विश्वास ।
कारण धनुषविनम्रता, करे अधिक ही त्रास ॥७॥

कर जोड़े रोवे अधिक, फिर भी क्या इतवार ।
छुपा हुआ रिपु के निकट, संभव हो हथियार ॥८॥

बाहिर मैत्री, चित्त से करे घृणा उपहास ।
मीठे बन, मौका मिले, करलो अरि को दास ॥९॥

कपटमित्र वैरी बने, बली न तुम भरपूर ।
तो बन माया-मित्र पर, रहो सदा ही दूर ॥१०॥

परिच्छेद ८३

कपट-मैत्री

१—जो मित्रता, शत्रु दिखाता है वह केवल निहाई है जिसके आश्रय से मौका मिलने पर वह तुम्हें लोहे के समान पीट देगा।

२—जो लोग ऊपर से तो स्नेह दिखाते हैं परन्तु मनमे वैर रखते हैं उनकी मित्रता कामिनी के हृदय समान थोडी सी अवधि में वदल जायगी।

३—चहे उसका ज्ञान कितना ही महान् और पवित्र हो, शत्रु के लिए यह फिर भी असम्भव है कि उसके प्रति जो घृणा है उसे हृदय से निकाल दे।

४—उन दुष्ट चालबाजों से डरते रहो कि जो सब के सामने ऊपरी मनसे तो हँसते हैं पर भीतर ही भीतर हृदय मे भारी विद्वेष रखते हैं।

५—उन आदमियों को देखो जिनका हृदय तुम्हारे साथ विल्कुल नहीं है परन्तु जिनके वचन तुम्हें आकर्षित करते हैं ऐसे लोगों में सर्वथा विश्वास न रक्खो।

६—एक वैरी पल भर में ही खुल जायगा यद्यपि वह मित्रता की बडी मृदुल भाषा बोलता हो।

७—यदि वैरी विनम्र वचन बोले तो भी उसका विश्वास न करो क्योंकि धनुप जितना ही अधिक झुकेगा उतना ही अधिक अनिष्ट सूचक होगा।

८—शत्रु यदि हाथ जोड़े और आँसू भी वहावे तो भी उसकी प्रतीति न करो सम्भव है कि उसके हाथों मे कोई हथियार छुपा हो।

९—ऐसे आदमी को देखो, जो जन समाज मे तुम्हारा आदर करता है परन्तु एकान्त में घृणा करने के लिए हँसता है उसकी प्रत्यक्ष-रूप मे चाटुकारी करो लेकिन उसे समय मिलते ही कुचल दो चाहे वह मित्रता के आलिङ्गन में ही क्यों न हो।

१० यदि शत्रु तुमसे मित्रता का ढोंग करता है और तुम भी अभी उससे खुला वैर नहीं कर सकते हो तो तुम भी उससे मित्रता का ढोंग रचो पर मनसे उसे सदा दूर रक्खो।

परिच्छेद ८४

मूर्खता

कहें किसे हम मूर्खता तो सुनलो पहिचान ।
लाभप्रद का त्यागना, हानिहेतु आदान ॥१॥
खोटे अनुचित कृत्य में, फँसना विना विवेक ।
प्रथमकोटि की मूर्खता, समझो यह ही एक ॥२॥
धर्म अरुचि निर्दयपना, कहना निन्दित बात ।
विस्मृत कर कर्तव्य को, बने मूढ़ प्रख्यात ॥३॥
शिक्षित होकर दक्ष हो, हो गुरुपद आरूढ़ ।
फिर भी इन्द्रियलम्पटी, उस सम और न मूढ़ ॥४॥
जीवन में ही पूर्व से, कहे स्वयं अज्ञान ।
अहो नरक का, क्षुद्रबिल, मेरा भावी स्थान ॥५॥
उच्चकार्य को मूढ़ नर, लेकर अपने हाथ ।
करे न उसका नाश ही, वन्दी बनता साथ ॥६॥
मूर्खमनुज की द्रव्य का, करें और ही भोग ।
क्षुधाशान्ति के अर्थ पर, तरसें परिजनलोग ॥७॥
कारणवश बहुमूल्य कुछ, पाजावे यदि अज्ञ ।
चेष्टायें उन्मत्त सीं, तो करता सावज्ञ ॥८॥
मूढ़जनों की मित्रता, मन को बड़ी सुहात ।
कारण टूटे से अहो, दुःख न हो कुछ ज्ञात ॥९॥
बुधमण्डल में अज्ञ नर, त्यों ही दिखता हीन ।
पयसन धवल पलंग पर, ज्यों हो पैर मलीन ॥१०॥

परिच्छेद ८४

मूर्खता

१—क्या तुम जानना चाहते हो कि मूर्खता किसे कहते हैं ? जो वस्तु लाभदायक है उसको फेंक देना और हानिकारक पदार्थ को पकड़ रखना, बस यही मूर्खता है ।

२—मूर्खता के सब भेदों में सबसे प्रमुख मूर्खता यह है कि ऐसे काम में अपने मन को प्रवृत्त करना जो कि अधम और अयोग्य है ।

३—मूर्ख मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है और मुख से निन्दित तथा कर्कश बातें बोलता है, वह उद्धत और निर्लज्ज हो जाता है तथा उसे कोई भी अच्छी बात नहीं सुहाती है ।

४—एक आदमी खूब पढ़ा लिखा और चतुर है, साथ ही दूसरों का गुरु है, फिर भी वह इन्द्रिय-लिप्सा का दास बना रहता है उससे बढ़कर मूर्ख और कोई नहीं है ।

५—मूर्ख अपने विषय में अपने जीवन में स्वयं ही आगे से कह देता है कि उसका स्थान नरक के एक तुच्छ बिल मे है ।

६—उस मूर्ख को देखो जो एक महान् कार्य को करने के लिए अपने हाथ में लेता है, वह उस काम को बिगाड़ ही न देगा किन्तु अपने को भी बेड़ियाँ पहिनने के योग्य बना लेगा ।

७—यदि मूर्ख को सौभाग्य से बहुत सी सम्पत्ति मिल जावे तो उससे पराये लोग ही चैन उड़ाते हैं, किन्तु उसके बन्धुबान्धव तो भूखों ही मरते हैं ।

८—यदि एक मूर्ख कोई बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करले तो वह एक पागल और उन्मत्त की तरह व्यवहार करेगा ।

९—मूर्ख लोगों की मित्रता बड़ी सुहावनी होती है, क्योंकि जब वह टूट जाती है तो कोई दुःख नहीं होता ।

१०—योग्य पुरुषों की सभा में किसी मूर्ख मनुष्य का जाना ठीक वैसा ही है जैसा कि साफ सुथरे पलंग के ऊपर मैला पैर रख देना ।

परिच्छेद ८५

अहङ्कारपूर्ण मूढ़ता

सब से बड़ी दरिद्रता, विषय--ज्ञातता एक ।
मिटजाती धनहीनता, पाकर यत्न अनेक ॥१॥

स्वेच्छा से यदि मूढ़-नर देता कुछ उपहार ।
अहोभाग्य तो पात्र का, समझो एक प्रकार ॥२॥

निजदोषों से मूर्खनर, लाते ऐसे कष्ट ।
अरि से भी दुःशक्य हैं मिलने वैसे कष्ट ॥३॥

जो नर निज को मानता, गर्वित हो मतिमान ।
सचमुच वह ही मूढ़ है कहते यों धीमान ॥४॥

ज्ञान, स्वयं--अज्ञात का, बतला कर यह मूढ़ ।
ज्ञात-विषय के ज्ञान में, करता भ्रम आरूढ़ ॥५॥

पटधारण से मूर्ख को, लाभ न होता खास ।
खुले हुए यदि दोषगण करते मन में वास ॥६॥

जो उथला, निजपेट में. सीमित कोई भेद-
रख न सके उस मूढ़ के, शिर पर सब ही खेद ॥७॥

सुने नहीं समझे नहीं, जो जड़ हठ से नीति ।
व्यथितबन्धु उसके लिए रखें निरन्तर भीति ॥८॥

आत्म--विनिश्चित मार्ग ही. मूर्खदृष्टि में शुद्ध ।
फिर भी देता ज्ञान जो, वह है बुद्धिविरुद्ध ॥९॥

सर्वमान्य भी वस्तु का. नहीं करे जो मान ।
पृथ्वीचारी भूत सा, होता है वह भान ॥१०॥

परिच्छेद ८५

अहङ्कारपूर्ण मूढ़ता

१—विषयदासता ही सबसे बडी गरीबी है और प्रकार की दरिद्रता को जगत दरिद्रता ही नहीं मानता है ।

२—जब एक मूढ स्वेच्छापूर्वक कोई उपहार देता है तो वह लेने वाले का सौभाग्य है और कुछ नहीं ।

३—मूढ़ आदमी स्वयं अपने शिर पर जैसीं आपत्तियाँ लाता है वैसीं उसके शत्रु भी नहीं पहुँचा सकते ।

४—क्या तुम जानना चाहते हो कि बुद्धि का उथलापन किसे कहते हैं ? बस उसी अहङ्कार को जिससे मनुष्य मनमें समझता है कि मैं बडा सयाना हूँ ।

५—जो मूढ़ अज्ञात विषयों के ज्ञान का दिखावा करता है वह, ज्ञात विषयों के प्रतिभी सन्देह उत्पन्न कर देता है ।

६—मूढ आदमी यदि अपने नङ्गे बदन को ढकता है तो इससे क्या लाभ ? जब कि उसके मन के ऐब ढँके हुए नहीं हैं ।

७—वह ओछा व्यक्ति जो किसी भेद को अपने तक सीमित नहीं रख सकता वह अपने शिर पर बहुत सीं आपत्तियां बुला लेता है ।

८—जो आदमी न तो स्वय भला बुरा पहिचानता है और न दूसरों की सलाह मानता है, वह जीवन भर अपने बन्धुओं के लिए दुखदायी बना रहता है ।

९—वह मनुष्य, जो कि मूर्ख की आंखें खोलना चाहता है स्वयं मूर्ख है, क्योंकि मूर्ख केवल एक ही बाजू जानता है और वही उसकी समझ मे सीधी और सच्ची है ।

१०—वह भी एक मूर्ख है जो जगत मान्य वस्तु को मान्य नहीं मानता वह संसार के लिए एक पिशाच है ।

उद्धतता

उद्धतता से अन्य का, जो करता उपहास ।
उस में इस ही दोष से, लोकघृणा का वास ॥१॥

कोई पड़ौसी जानकर, कलह-दृष्टि से त्रास ।
देवे तो, उत्तम यही, मत जूझो दे त्रास ॥२॥

कलहवृत्ति भी एक है, दुःखद बड़ी उपाधि ।
उसकी कीर्ति अनन्त जो, छोड़सका यह व्याधि ॥३॥

दुःखभरा औद्धत्य यह, जिसने त्यागा दूर ।
उसका मन आह्लाद से, रहे सदा भरपूर ॥४॥

मुक्त सदा विद्वेष से, जिनका मनोनियोग ।
सर्वप्रिय इस लोक में, होते वे ही लोग ॥५॥

जिसे पड़ौसी द्वेष में, आता है आनन्द ।
अधःपतन उसका यहाँ, होगा शीघ्र अमन्द ॥६॥

जो नृप मत्सर-भाव से, सब को करे विरुद्ध ।
झगड़ालू उस भूप की, राज्यवृद्धि अवरुद्ध ॥७॥

टाले से विग्रह सदा, ऋद्धि बढ़े भरपूर ।
और बढ़ाने से अहो, नहीं पतन अतिदूर ॥८॥

बचे सभी आवेश से, जब हो पुण्यविशेष ।
और वही हतभाग्य नर, करे पड़ौसी-द्वेष ॥९॥

मानव को विद्वेष से, फल मिलता विद्वेष ।
शिष्टवृत्ति में शान्तियुत, रहे समन्वय शेष ॥१०॥

परिच्छेद ८६

उद्धतता

१—उजड्डपन से दूसरों की हँसी उड़ाना ऐसा दुर्गुण है जिससे सभी व्यक्तियों को भीतर घृणा पैदा होती है।

२—यदि तुम्हारा पड़ौसी जानबूझकर झगड़ा करने की भावना से तुम्हें सताता है तो भी सर्वोत्तम बात यही है कि तुम अपने हृदय में बदले की भावना न रक्खो और न उसे बदले में चोट पहुँचाओ।

३—दूसरों से झगड़ा करने की आदत वास्तव में एक दुःखद व्याधि है। यदि कोई व्यक्ति अपने को उससे मुक्त करले तो उसे शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

४—यदि तुम अपने हृदय से सबसे बड़ी बुराई अर्थात् उजड्डपन की भावना को दूर कर दो तो तुम्हें सर्वोच्च आनन्द प्राप्त होगा।

५—ऐसे व्यक्ति को कौन न चाहेगा, जिसमे विद्वेष की भावना को दूर करने की योग्यता है?

६—जो आदमी अपने पड़ौसियों के प्रति विद्वेष करने में आनन्द प्राप्त करता है उसका कुछ ही दिनों में अधःपतन हो जायगा।

७—वह झगड़ालू स्वभाव का राजा जो सदा झगड़े में लिप्त रहता है उस नीति पर आचरण नहीं कर सकता जिससे राष्ट्र का अभ्युत्थान होता है।

८—झगड़े से बचने से समृद्धि प्राप्त होती है और यदि तुम झगड़े को बढ़ाने का मौका दोगे तो शीघ्र ही तुम्हारा पतन हो जायगा।

९—जब भाग्यदेवी किसी आदमी पर प्रसन्न होती है तो वह सब प्रकार की उत्तेजनाओं से बचता है, परन्तु उसके भाग्य में यदि विनाश होना बदा है तो वह अपने पड़ौसियों के प्रति विद्वेष की भावना पैदा करने से नहीं चूकता।

१०—विद्वेष का फल बुरा होता है, लेकिन भलाई का परिणाम शान्ति और समन्वयकार्य होता है।

परिच्छेद ८७

शत्रु की परख

बलशाली के साथ तुम, मत जूझो मतिधाम ।
किन्तु भिड़ो बलहीन से, बिना लिये विश्राम ॥१॥

जो अशक्त असहाय नृप, रखे सदा निठुराई ।
कौन भरोसे वह करे, अरि पर कहो चढ़ाई ॥२॥

धैर्य, बुद्धि, औदार्यगुण, और पड़ौसी-मेल ।
मिलें नहीं जिस भूप में, उसका जय अरिखेल ॥३॥

कटुकप्रकृति के साथ में, जो नृप बिना लगाम ।
अधोदृष्टि सर्वत्र वह, सर्वघृणा का धाम ॥४॥

दक्ष न हो कर्तव्य में रक्षित रखे न मान ।
राजनीति से शून्य नृप, अरि का हर्षस्थान ॥५॥

लम्पट या क्रोधान्ध नृप, होता प्रतिभाहीन ।
वैरी उसके वैर के,-स्वागत को आसीन ॥६॥

कार्य पूर्व में ठान जो, करे उलट सब काम ।
वैर करो उस भूप से, चाहे देकर दाम ॥७॥

मिले न सद्गुण एक भी, जिसमें दोष अनेक ।
अरि-मुद--वर्धक भूप वह, रखे मित्र क्या एक ॥८॥

मूढ़ तथा भयभीत से, शत्रु करे यदि युद्ध ।
उसका हर्ष समुद्र तब, रहे न सीमारुद्ध ॥९॥

मूढ़--पड़ौसी--राज्य से, लड़े नहीं जो भूप ।
करे नहीं जय यत्न भी, मिलता उसे न रूप ॥१०॥

परिच्छेद ८७

शत्रु की परख

१—जो तुम से शक्तिशाली हैं उनके विरुद्ध तुम प्रयत्न मत करो लेकिन जो तुम से कमजोर हैं उनके विरुद्ध विना एकक्षण विश्राम किये निरन्तर युद्ध करते रहो।

२—वह राजा जो निर्दयी है और जिसके कोई संगी साथी नहीं हैं साथ ही ऐसी शक्ति भी नहा कि अपने पैरों पर खड़ा हो सके वह अपने शत्रु का कैसे सामना कर सकता है।

३—वह राजा जिसमें न तो साहस है, न वुद्धिमत्ता, और न उदारता इनके सिवाय जो अपने पड़ौसियों से मेल नहीं रखता उसके वैरी सरलता से उसे जीत लेंगे।

४—वह राजा जो कि सदा कटु स्वभाव का है और अपनी वाणी पर नियन्त्रण नहीं रख सकता, वह हर आदमी से, हर स्थान पर हर समय नीचा देखेगा।

५—जिस राजामें चतुराई नहीं है, जो अपनी मान प्रतिष्ठा की परवाह नहीं करता और जो राजनीति शास्त्र तथा उस सम्वन्धी अन्य विपयों में दुर्लक्ष्य रखता है वह अपने शत्रुओं के लिए आनन्द का कारण होता है।

६—जो भूपाल अपनी लिप्सा का दास है और क्रोधावेश में अन्धा होकर अपनी तर्क वुद्धि खो बैठता है उसके वैरी उसके वैर का स्वागत करेंगे।

७—जो भूपति किसी काम को उठा तो लेता है पर अमल ऐसा करता है कि जिससे उस काम मे सफलता मिलनी संभव नहीं होती ऐसे राजा की शत्रुता मोल लेने के लिए यदि कुछ मूल्य भी देना पड़े तो उसे देकर ले लेना चाहिए।

८—यदि किसी राजा मे गुण तो कोई है नहीं, और दोप वहुत से हैं तो उसका कोई भी संगी साथी नही होगा तथा उसके शत्रु घी के दीपक जलायेंगे।

९—यदि मूर्ख और कायरों के साथ युद्ध करने का अवसर आता है तो शत्रुओं को निस्सीम आनन्द होता है।

१०—वह नरेश! जो अपने मूर्ख पड़ौसियों से लड़ने और आसानी से विजय प्राप्त करने का यत्न नहीं करता उसे कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती।

परिच्छेद ८८

शत्रुओं के साथ व्यवहार

मत छेड़ो बुध जानकर, चाहे हो भी हास्य ।
हत्यारे उस वैर को, जो है यम का आस्य ॥१॥

शस्त्रपाणि के साथ में, चाहे करलो वैर ।
वाणी जिसकी शस्त्र पर, मतकर उससे वैर ॥२॥

नहीं सहायक एक भी, फिर भी रण-आलाप-
करता, जो रिपुसंघ में, वह नृप पागल आप ॥३॥

अरि को जो चातुर्य से, करले मित्र उदार ।
श्री स्थिर उस भूप की, कर भी जय आधार ॥४॥

दो रिपु यदि हों सामने, हो असहायी आप ।
संधि करो तब एक से, पर से लड़ ले चाप ॥५॥

जब हो अपने राज्य पर, बाह्यशक्ति का वार ।
सजग पड़ौसी से रहो, मध्यस्थिति हितकार ॥६॥

बाधाएँ अनजान से, बोलो कभी न भूल ।
जानसकें त्रुटियाँ नहीं, वे, जो हों प्रतिकूल ॥७॥

दृढ़साधन, दृढ़युक्तियाँ, दृढ़रक्षा, दृढ़तंत्र ।
यदि हों तो रिपु-गर्व का, मिले धूलि में मंत्र ॥८॥

वृक्ष कटीले काट दो, उगते ही लख दाव ।
छेदक कर में अन्यथा, देंगे पीछे घाव ॥९॥

अरिमद-भञ्जन की नहीं, जिन में शक्ति अनल्प ।
अधम पुरुष वे लोक में, जीवन उनका स्वल्प ॥१०॥

परिच्छेद ८८

शत्रुओं के साथ व्यवहार

१—उस हत्यारी बात को कि जिसे लोग शत्रुता कहते हैं, जान-बूझ कर कभी न छेड़ना चाहिए, चाहे वह परिहास्य के लिए ही क्यों न हो।

२—तुम उन लोगों को भले ही शत्रु बना लो कि जिनका हथियार धनुष-बाण है, परन्तु उन लोगों को कभी मत छेड़ो जिनका हथियार जिह्वा है।

३—जिस राजा के पास सहायक तो कोई भी नहीं है पर जो ढेर के ढेर शत्रुओं को युद्ध के लिए ललकारता है वह पागल-से भी बढ़कर पागल है।

४—जिस राजा में शत्रुओं को मित्र बना लेने की कुशलता है उसकी शक्ति सदा स्थिर रहेगी।

५—यदि तुमको विना किसी सहायक के अकेले दो शत्रुओं से लड़ने का अवसर आए तो उनमें से किसी एक को अपनी ओर मिला लेने की चेष्टा करो।

६—तुमने अपने पड़ौसी को मित्र या शत्रु बनाने का कुछ भी निश्चय कर रक्खा हो, बाह्य आक्रमण होने पर उसे कुछ भी न बनाओ, बस यों ही छोड़ दो।

७—अपनी कठिनाइयों का हाल उन लोगों में प्रगट न करो कि जो अभी तक उनसे अनजान हैं और न अपनी दुर्बलतायें वैरियों को ज्ञात होने दो।

८—चतुरतापूर्वक एक युक्ति सोचो, अपने साधनों को सुदृढ़ और सुसंगठित बनाओ तथा अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करलो। यदि तुम यह सब कर लोगे तो तुम्हारे शत्रुओं का गर्व चूर्ण होकर धूल में मिलते कुछ देर न लगेगी।

९—काँटेदार वृक्षों को छोटेपन में ही काट देना चाहिए, क्योंकि जब वे बड़े हो जायँगे तो स्वयं ही उस हाथ को घायल कर देंगे जो उन्हें काटने जावेगा।

१०—जो लोग अपना अपमान करने वालों का गर्व चूर्ण नहीं करते वे वास्तव में बहुत समय तक नहीं टिकेंगे।

परिच्छेद ८९

घर का भेदी

फव्वारा या कुञ्जवन ज्यों हों वर्धक रोग ।
अप्रिय होते बन्धु त्यों, रखकर अरि से योग ॥१॥

खुले खड्गसम शत्रु से, क्या है डरकी बात ।
कपट मित्र से नित्य ही, भीत रहो हे तात ॥२॥

सजग रहो उस दुष्ट से, जिसका हृदय न पूत ।
घात करे वह काल सा, ज्यों कुँभार का सूत ॥३॥

मित्ररूप से पास में, जो अरि करता वास ।
भेदबुद्धि वह डालकर, सजता विपद्-निवास ॥४॥

निजजन ही यदि क्रुद्ध हो, स्वयं करें विद्रोह ।
जीवन के लाले पड़ें, बढ़ें विपद्-सन्दोह[1] ॥५॥

कपटवृत्ति का राज्य हो, जिस नृप के दरबार ।
होगा वह भी एक दिन, उसका स्वयं शिकार ॥६॥

भेद पड़े फिर ऐक्य क्या, मिलता है अनुरूप ।
ढक्कन बर्तन से सदा, रखता भिन्नस्वरूप ॥७॥

मिलजाते वे भूमि में, जिनके घर में फूट ।
रेती से ज्यों लोह के, गिरते कणकण टूट ॥८॥

तिलसम भी यदि हो जहाँ, आपस का संघर्ष ।
सर्वनाश शिर पर नचे, हटे वहाँ उत्कर्ष ॥९॥

द्वेषी से जो रीति तज बोले स्वजन समान ।
बसें एक ही झोंपड़ी, विषधर साथी मान ॥१०॥

---

१. समूह ।

परिच्छेद ८९.

घर का भेदी

१—कुञ्जवन और पानी के फुव्वारे भी कुछ आनन्द नहीं देते यदि उनसे बीमारी पैदा होती है, इसी प्रकार अपने नातेदार भी विद्वेष योग्य हो जाते हैं जब कि वे उसका सर्वनाश करना चाहते हैं।

२—उस शत्रु से अधिक डरने की जरूरत नहीं है कि जो नङ्गी तलवार की तरह है किन्तु उस शत्रु से सावधान रहो कि जो मित्र बनकर तुम्हारे पास आता है।

३—अपने गुप्तवैरी से सदा सजग रहो क्योंकि संकट के समय वह तुम्हें कुम्हार की डोरी के समान बड़ी सफाई से काट डालेगा।

४—यदि तुम्हारा कोई ऐसा शत्रु है कि जो मित्र के रूप मे घूमता-फिरता है तो वह शीघ्र ही तुम्हारे साथियों में फूट के बीज बो देगा और तुम्हारे शिर पर सैकड़ों बलाएँ ला डालेगा।

५—जब कोई भाई बन्धु तुम्हारे प्रतिकूल विद्रोह करे तो वह तुम पर अनगिनते संकट ला सकता है यहाँ तक कि उनसे स्वयं तुम्हारे प्राण संकट मे पड़ जावेंगे।

६—जब किसी राजा के दरबार में छल कपट प्रवेश कर जाता है तो फिर यह असंभव है कि एक न एक दिन वह उसका स्वयं भक्ष्य न बन जाय।

७—जिस घर मे भेदवृत्ति पड़ गई है वह उस बर्तन के समान है जिसमें ढक्कन लगा हुआ है, यद्यपि वे दोनों देखने में एक से मालूम होते हैं फिर भी वे एक कभी नहीं हो सकते।

८—देखो जिस घर में फूट पड़ी हुई है वह रेती से रेते हुए लोहे के समान कण कण होकर धूल म मिल जायगा।

९—जिस घर में पारस्परिक कलह है सर्वनाश उसके शिर पर लटक रहा है फिर वह कलह चाहे तिल मे पड़ी हुई दरार का तरह ही छोटा क्यों न हो।

१०—देखो जो मनुष्य ऐसे आदमी के साथ बिना मान सम्मान के व्यवहार करता है कि जो मन ही मनमे उससे द्वेप रखता है, वह उस मनुष्य के समान है जो काले नाग को साथी बनाकर एक ही झोपड़े मे रहता है।

परिच्छेद १०

बड़ों के प्रति दुर्व्यवहार न करना

सन्तों के अपमान से, निज रक्षा का कार्य ।
करलो यदि हो कामना, क्षेम-कुशल की आर्य ॥१॥
सत्पुरुषों की अज्ञ यदि, करे अवज्ञा हास ।
टूटे उनकी शक्ति से, शिर पर विपदाकाश ॥२॥
हितूजनों को लाँघकर, जाओ करलो नाश ।
करो बली से वैर जो, करदे सत्तानाश ॥३॥
शक्तिसहित बलवान का, करता जो अपमान ।
वह क्रोधी निजनाश को, करता यम आह्वान ॥४॥
बलशाली या भूप का, करके क्रोध उभार ।
पृथिवी पर नर को नहीं, सुख का कुछ आधार ॥५॥
पूर्ण भयंकर आग से, बच सकते नर-प्राण ।
पर मान्यों से द्वेष रख, कैसे उनका त्राण ॥६॥
आत्मबली योगीप जो, करें कोप की वृद्धि ।
जीवन में फिर हर्ष क्या, क्या हो वैभव-सिद्धि ॥७॥
गिरिसमान ऋषि उच्च हैं, उनकी शक्ति असीम ।
उखड़े उनके कोप से, सुदृढ़ राज्य निस्सीम ॥८॥
व्रत से जिन का शुद्ध मन, वे ऋषि यदि हों रुष्ट ।
स्वर्गाधिप तब इन्द्र भी, होता पद से भ्रष्ट ॥९॥
आत्मशक्ति के देवता, ऋषि का कोप महान ।
बचे नहीं बलवान का, नर ले आश्रयदान ॥१०॥

परिच्छेद १०

बड़ों के प्रति दुर्व्यवहार न करना

१—जो आदमी अपनी भलाई चाहता है, उसे सबसे अधिक सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि वह महान् पुरुषों का अपमान करने से अपने को बचावे ।

२—यदि कोई मनुष्य, महात्माओं का निरादर करेगा तो उनकी शक्ति से उसके शिर पर अनन्त आपत्तियाँ आ टूटेंगी ।

३—क्या तुम अपना सर्वनाश करना चाहते हो ? तो जाओ किसी के सदुपदेश पर ध्यान न दो और जाकर उन लोगों के साथ छेड़ाखानी करो कि जो जब चाहें तुम्हारा नाश करनेकी शक्ति रखते हैं।

४—जो दुर्बल मनुष्य, बलवान् और सत्ताधारी पुरुषों का अपमान करता है वह मानो यमराज को अपने पास आने के लिए संकेत करता है ।

५—जो लोग, पराक्रमी राजा के क्रोध को उभारते हैं, वे चाहे कहीं जावें कभी सुख समृद्ध न होंगे ।

६—दावाग्नि में पड़े हुए लोग चाहे भले ही बच जायँ पर उन लोगों की रक्षा का कोई उपाय नहीं है कि जो शक्तिशाली पुरुषों के प्रति दुर्व्यवहार करते हैं ।

७—यदि आत्मबलशाली ऋषिगण तुम पर क्रुद्ध हैं तो विविध प्रकार के आनन्द से उल्लसित तुम्हारा भाग्यशाली जीवन और समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण तुम्हारा धन फिर कहाँ होगा ?

८—जिन राजाओं का अस्तित्व शाश्वतरूप से स्थायी भित्ति पर स्थापित है वे भी अपने समस्त बन्धुबान्धवों सहित नष्ट हो जायँगे यदि पर्वत के समान शक्तिशाली महर्षिगण उनके सर्वनाश की कामना भर करें ।

९—और तो और स्वयं देवेन्द्र भी अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाय और अपना प्रभुत्व गवां बैठे, यदि पवित्र प्रतिज्ञा वाले सन्त लोग क्रोध भरी दृष्टि से उसकी ओर देखें।

१०—यदि आध्यात्मिक ऋद्धि रखने वाले महर्षिगण रुष्ट हो जायँ तो वे मनुष्य भी नहीं बच सकते कि जो सुदृढ़ से सुदृढ़ आश्रय के ऊपर निर्भर हैं ।

परिच्छेद ९१

स्त्री की दासता

नारी की पद-अर्चना, करने में जो लीन ।
उच्च नहीं वह आर्यजन, बने न विषयाधीन ॥१॥

जो विषयी निशदिन रहे, भरा मदन-सन्ताप ।
ऋद्धि सहित भी निन्द्य हो, लज्जित होता आप ॥२॥

नारी से दब कर रहे, सचमुच वह है क्लीव ।
भद्रों में वह लाज से, चले न हो उद्ग्रीव ॥३॥

प्रिया-भीत कामार्त को, देखे होता खेद ।
उस अभव्य हतभाग्य के, गुण रहते यश-भेद ॥४॥

नारी की सेवार्थ ही कामी का पुरुषार्थ ।
क्या क्षमता साहस करे, गुरुजन की सेवार्थ ॥५॥

प्रिया सुकोमल बाहु से, जो धूजें भय मान ।
मान नहीं उनका कहीं, जो हों देवसमान ॥६॥

जिसपर चोली-राज्य की, प्रभुता का अधिकार ।
उससे कन्या ही भली, लज्जाभूषित सार ॥७॥

प्रियावचन ही कार्य में, जिनको नित्य प्रमाण ।
मित्रकार्य या और कुछ, करें न वे कल्याण ॥८॥

धर्म तथा धन से रहे, कामी को वैराग्य ।
प्रेमामृत के पान का, नहीं उसे सौभाग्य ॥९॥

कर्ता उत्तम कार्य के, भाग्य उदय के धाम ।
करें न विषयासक्ति सी, दुर्मति का वे काम ॥१०॥

परिच्छेद ११

स्त्री की दासता

१—जो लोग अपनी स्त्री के श्री चरणों की अर्चना में ही लगे रहते हैं वे कभी महत्व प्राप्त नहीं कर सकते और जो महान् कार्यों के करने की उच्चाशा रखते हैं वे ऐसे निकृष्ट प्रेम के पाश में नहीं फँसते।

२—जो आदमी अपनी स्त्री के असीम मोह में पड़ा हुआ है, वह अपनी समृद्धिशाली अवस्था में भी लोगों में हास्यस्पद हो जायगा और लज्जा से उसे अपना मुँह छिपाना पड़ेगा।

३—वह नामर्द जो अपनी स्त्री के सामने झुककर चलता है, सत्पात्र पुरुषों के सामने वह सदा शरमावेगा।

४—शोक है उस मुक्ति-विहीन अभागे पर जो अपनी स्त्री के सामने काँपता है, उसके गुणों का कभी कोई आदर न करेगा।

५—जो आदमी अपनी स्त्री से डरता है वह गुरुजनों की सेवा करने का भी साहस नहीं कर सकता।

६—जो लोग अपनी स्त्री की कोमल भुजाओं से भयभीत रहते हैं वे यदि देवों के समान भी रहें तब भी उनका कोई मान न करेगा।

७—जो मनुष्य चोली-राज्य का आधिपत्य स्वीकार करता है, उसकी अपेक्षा एक लजीली कन्या में अधिक गौरव है।

८—जो लोग अपनी स्त्री के कहने में चलते हैं वे अपने मित्रों की आवश्यकताओं को भी पूर्ण न कर सकेंगे और न उनसे कोई शुभ काम ही हो सकेगा।

९—जो मनुष्य स्त्री-राज्य का शासन स्वीकार करते हैं उन्हें न तो धर्म मिलेगा और न धन, इनके सिवाय न उन्हें अखण्ड प्रेम का आनन्द ही मिलेगा।

१०—जिन लोगों के विचार महत्वपूर्ण कार्यों में रत हैं और जो सौभाग्य-लक्ष्मी के कृपापात्र हैं वे अपनी स्त्री के मोहजाल में फँसने की कुबुद्धि नहीं करते।

परिच्छेद ९२

वेश्या

जिन्हें न नर से प्रेम है, धन से ही अनुकूल ।
कपटमधुर उनके वचन, बनते विपदा-मूल ॥१॥

वेश्या मधुसम बोलती, धन की आय विचार ।
चाल-ढाल उसकी समझ, दूर रहो यह सार ॥२॥

गणिका उर से भेंटती, धनिक देख निज जार ।
ऊपर से कर धूर्तता, दिखलाती अति प्यार ॥
लगे उसे पर चित्त में, प्रेमी की यह देह ।
बेगारी तम में छुए, ज्यों कोई मृतदेह ॥३॥ (युग्म)

व्रतभूषित नररत्न जो, होते मन्द-कषाय ।
करें न वेश्यासंग से, दूषित वे निज काय ॥४॥

जिनक ज्ञान अगाध है, अथवा निर्मल बुद्धि ।
रूप-हाट से वे कभी, लेते नहीं अशुद्धि ॥५॥

रूप अपावन बेचती, वेश्या चपल अपार ।
छुएँ न उसका हाथ वे, जो हैं निजहितकार ॥६॥

खोजें असती नारियाँ, नर ही अधम जघन्य ।
गले लगातीं एक वे, सोचें मन से अन्य ॥७॥

अविवेकी गुनते यही, पाकर वेश्या संग ।
स्वर्गसुधा सी अप्सरा, मानो लिपटी अंग ॥८॥

बनी ठनी शृङ्गार से, वेश्या नरक समान ।
नाले जिसके बाहु हैं, डूबें कामी आन ॥९॥

द्यूतचाट वेश्यागमन, और सुरा का पान ।
भाग्यश्री जिनकी हटी, उनके सुख सामान ॥१०॥

परिच्छेद ९२

वेश्या

१—जो स्त्रियां प्रेम के लिए नहीं बल्कि धन के लोभ से किसी पुरुष की कामना करती हैं, उनकी मायापूर्ण मीठी बातें सुनने से दुःख ही दुःख होता है।

२—जो दुष्ट स्त्रियाँ मधुमयी वाणी बोलती हैं पर जिनका ध्यान अपने नफे पर रहता है, उनकी चाल-ढाल को विचार कर उनसे सदा दूर रहो।

३—वेश्या जब अपने प्रेमी का दृढ़-आलिङ्गन करती है तो वह ऊपर से यह प्रदर्शन करती है कि वह उससे प्रेम करती है परन्तु मनमें तो उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे कोई वेगारी अन्धेरे कमरे में किसी अज्ञात लाश को छूता है।

४—जिन लोगों के मन का झुकाव पवित्र कार्यों की ओर है, वे असती स्त्रियों के स्पर्श से अपने शरीर को कलङ्कित नहीं करते।

५—जिन लोगों की बुद्धि निर्मल है और जिनमें अगाध ज्ञान है वे उन औरतों के स्पर्श से अपने को अपवित्र नहीं करते कि जिनका सौन्दर्य और लावण्य सब लोगों के लिए खुला है।

६—जिनको अपने कल्याण की चाह है वे स्वैरिणी गणिका का हाथ नहीं छूते कि जो अपनी अपवित्र सुन्दरता को बेचती फिरती है।

७—जो ओछी तबियत के आदमी हैं वे ही उन स्त्रियों को खोजेंगे कि जो केवल शरीर से आलिङ्गन करती हैं, जबकि उनका मन दूसरी जगह रहता है।

८—जिनमें सोचने समझने की बुद्धि नहीं है उनके लिए चालाक कामनियों का आलिङ्गन ही अप्सराओं की मोहिनी के समान है।

९—भरपूर साज-सिंगार किये और बनी-ठनी स्वैरिणी के कोमल बाहु नरक की अपवित्र नाली के समान हैं जिसमें घृणित मूर्ख लोग अपने को जा डुबोते हैं।

१०—चंचल मन वाली स्त्री, मद्यपान और जुआ, ये उन्हीं के लिए आनन्दवर्द्धक हैं कि जिन्हें भाग्य-लक्ष्मी छोड़ देती है।

परिच्छेद १३

मद्य का त्याग

प्रेमी यदि हो मद्य के, फिर क्यों अरि हो भीत ।
और उसी से पूर्व के, मिटते गौरव–गीत ॥१॥

यदि हो हित की कामना, करो न मदिरापान ।
माने नहीं अनार्य तो, पीए तज वर मान ॥२॥

मदिरापायी की दशा, माता ही जब देख ।
ग्लानि करे तब भद्र का, क्या करना उल्लेख ॥३॥

नर को देख कुसंग में, मधु लेवे जब घेर ।
लज्जा सी तब सुन्दरी, जाती मुख को फेर ॥४॥

कैसी यह है मूर्खता, कैसा प्रतिभा–द्रोह ।
मूल्य चुकाकर आप ले, विस्मृति, विभ्रम मोह ॥५॥

किसी तरह के मद्य का, पीना विष का पान ।
सोता ऐसी नींद वह, ज्यों होता मृत भान ॥६॥

छिप कर भी घर में पियी, करती मदिरा हानि ।
भेद पड़ौसी जानकर, करते अति ही ग्लानि ॥७॥

"नहीं जानता मद्य में", मत कर यों अपलाप ।
कारण झूँठ कुटेव में, और बढ़ावे पाप ॥८॥

व्यसनी को उपदेश दे, खोना ही है काल ।
डूबे नर की खोज में, जल में व्यर्थ मसाल ॥९॥

स्वयं शराबी होश में, देखे मद के दोष ।
पर सोचे निज के नहीं, यह ही दुःखद रोष ॥१०॥

परिच्छेद १३

मद्य का त्याग

१—देखो, जिन लोगों को मद्य पीने का व्यसन लगा हुआ है उनके शत्रु उनसे कभी न डरेंगे और जो कुछ उन्हें मान प्रतिष्ठा प्राप्त है वह भी जाती रहेगी।

२—कोई भी शराब न पिये, यदि कोई पीना ही चाहे तो उन लोगों को पीने दो कि जिन्हें आर्य पुरुषों से मान-मर्यादा मिलने की परवाह नहीं है।

३—जो आदमी नशे में चूर है उसकी आकृति स्वयं उसको जन्म देने वाली माता को ही बुरी लगती है। फिर भला वह सत्पात्र पुरुषों को कैसी लगेगी ?

४—जिन लोगों को मदिरापान की घृणित आदत पड़ी हुई है लज्जा-रूपिणी सुन्दरी उनसे अपना मुँह फेर लेती है।

५—यह तो असीम मूर्खता और अपात्रता है कि अपना धन खर्च करे और बदले में विस्मृति तथा विभ्रम को मोल लेवे।

६—जो लोग प्रतिदिन उस विष का पान करते हैं कि जिसे ताड़ी या मद्य कहते हैं वे मानो महानिन्द्रा मे ग्रस्त हैं। उनमें और मृतक में कोई अन्तर नहीं होता।

७—जो लोग चोरी से मदिरा पीते हैं और अपने समय को अचेत अवस्था में तथा स्मृतिशून्यता में गमाते हैं, उनके पड़ोसी शीघ्र ही इस बात को जान जायँगे और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखेंगे।

८—मद्यपायी व्यर्थ ही यह कहने का ढोंग न करें कि मैं तो मदिरा को जानता ही नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से वह उस दुष्कृत्य के साथ झूठ बोलने का पाप और अधिक शामिल करता है।

९—जो मद्य-प्यासे को सीख देने का प्रयत्न करता है, वह उस मनुष्य के समान हैं जो पानी मे डूबे हुए आदमी को मसाल लेकर ढूँढ़ता है।

१०—जो आदमी अपनी सचेत अवस्था में किसी दूसरे दारूकुट्टे की दुर्गति को स्वयं आँखों से देखता है तो क्या वह निज का अनुमान नहीं लगा सकता कि जब वह नशे में होता है तो उसकी भी यही दशा होती होगी !

परिच्छेद ९४

जुआ

जीतो तो भी द्यूत को, मतखेलो धीमान ।
व्यक्ति-मत्स्य को द्यूतजय, वनसीमांस समान ॥१॥

जिसमें सौ को हार कर, कभी जीतले एक ।
उसी जुआ से ऋद्धि की, कैसी आशा नेक ॥२॥

पैसा रख कर दाव पर, जिसे जुआ की चाट ।
हरलेते अज्ञातजन, उसका सारा ठाट ॥३॥

द्यूत अधम जैसा करे, करे न वैसा अन्य ।
पापअर्थ मन को सजा, यश को करे जघन्य ॥४॥

मानें निज को द्यूतपटु ऐसे लोग अनेक ।
पछताया जो हो नहीं, पर क्या उनमें एक ॥५॥

द्यूतअन्ध दुर्दैव से, भोगे कष्ट अनन्त ।
व्यसनी इसका मूढ़ नर, मरे क्षुधा से अन्त ॥६॥

जाता द्यूतागार में, प्रायः जिसका काल ।
पैतृक धन के साथ वह, खोता कीर्ति विशाल ॥७॥

स्वाहा करदे सम्पदा, साख मिटे चहुँओर ।
विपदा-साथी द्यूत यह, करदे हृदय कठोर ॥८॥

छोड़ें द्यूतासक्त को, कीर्ति-सम्पदा-ज्ञान ।
यही नहीं, वह मांगता, अन्न वस्त्र का दान ॥९॥

ज्यों ज्यों हारे द्यूत में, त्यों त्यों बढ़ता राग ।
दुःखित होकर जन्म भर, जलती तृष्णा आग ॥१०॥

परिच्छेद ९४

जुआ

१—जुआ मत खेलो भले ही उसमें जीत क्यों न होती हो, क्योंकि तुम्हारी जीत ठीक उस कांटे के मांस के समान है जिसे मछली निगल जाती है ।

२—जो जुआरी सौ हारकर एक जीतते हैं उनके लिए जगत में उत्कर्षशाली होने की क्या सम्भावना हो सकती है ?

३—जो आदमी प्रायः दाव पर बाजी लगाता है उसका सारा धन दूसरे लोगों के ही हाथ में चला जाता है ।

४—मनुष्य को जितना अधम जुआ बनाता है उतना और कोई नहीं, क्योंकि इससे उसकी कीर्ति को बट्टा लगता है और उसका हृदय कुकर्म करने की प्रेरणा पाता है ।

५—ऐसे आदमी बहुतेरे हैं जिन्हें पाँसा डालने की अपनी चतुराई का घमण्ड है और जो जुआघर के पीछे पागल हैं, लेकिन उनमें से एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसने अन्त मे पश्चाताप न किया हो ।

६—जो आदमी जुआ के व्यसन में अन्धे हुए हैं वे भूखों मरते हैं और हर प्रकार के संकटों में पड़ते हैं ।

७—यदि तुम अपना समय जुआघर में नष्ट कर दोगे तो तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति समाप्त हो जायगी और तुम्हारी कीर्ति को भी धब्बा लगेगा ।

८—जुआ में तुम्हारी सम्पत्ति स्वाहा होगी और प्रामाणिकता नष्ट होगी, इसके सिवाय हृदय कठोर बनेगा और तुम पर दुःख ही दुःख आवेंगे ।

९—जो आदमी जुआ खेलता है उसकी कीर्ति, विद्वत्ता और सम्पत्ति ये सब उसका साथ छोड़ देते हैं, इतना ही नहीं, उसे खाने और कपड़े तक के लिए भीख माँगनी पड़ती है ।

१०—ज्यों ज्यों आदमी जुआ में हारता जाता है त्यों त्यों उसके प्रति उसकी प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है । इससे उसकी आत्मा को जो कष्ट उठाना पड़ता है उससे जीवन भर के लिए उसकी आत्मा की तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है ।

परिच्छेद ९५

औषधि

ऋषि कहते इस देह में, वातादिक गुण तीन ।
और विषम जब ये बनें, होते रोग नवीन ॥१॥
पचजावे जब पूर्व का, तब जीमें जो आर्य ।
आवश्यक उसको नहीं, औषधि-सेवन-कार्य ॥२॥
दीर्घत्रयी की रीति यह, जीमों बनकर शान्त ।
और पचे पश्चात फिर, जीमों हो निर्भ्रान्त ॥३॥
जब तक पचे न पूर्व का, तब तक छुओ न अन्न ।
पचने पर जो सात्म्य हो, खा लो उसे प्रसन्न ॥४॥
पथ्य तथा रुचिपूर्ण जो, भोजन करे सुपुष्ट ।
उस देही को देह की, व्यथा न घेरे दुष्ट ॥५॥
जीमें खाली पेट जो, उसको ढूँढ़े स्वास्थ्य ।
खाता यदि मात्रा अधिक, तो ढूँढ़े अस्वास्थ्य ॥६॥
जठरानल को लाँघ कर, खाते हतधी-लोग ।
अनगिनते बहुभाँति के, घेरें उनको रोग ॥७॥
रोग तथा उत्पत्ति को, सोचो और निदान ।
पीछे उसके नाश का, करो प्रयत्न महान ॥८॥
कैसा रोगी रोग क्या, क्या ऋतु का व्यवहार ।
सोचे पहले वैद्य फिर, करे चिकित्सा सार ॥९॥
रोगी, भेषज, वैद्यवर, औषधि-विक्रयकार ।
चार चिकित्सा सिद्धि में, साधन ये हैं सार ॥१०॥

परिच्छेद ९५

औषधि

१—वात आदि जिन तीन गुणों का वर्णन ऋषियों ने किया है उनमें से कोई भी यदि अपनी सीमा से घट बढ़ जावे तो वह रोग का कारण हो जाता है।

२—शरीर के लिए औषधि की कोई आवश्यकता न हो यदि खाया हुआ भोजन परिपाक हो जाने के पश्चात खाया जावे।

३—भोजन सदैव शान्ति के साथ करो और जीमें हुए अन्न के पच जाने पर ही फिर भोजन करो, बस दीर्घायु होने का यही सर्वोत्तम मार्ग है।

४—जब तक तुम्हारा खाया हुआ अन्न न पच जावे और जब तक कड़क कर भूख न लगे तब तक भोजन के लिए ठहरे रहो और उसके पश्चात् शान्ति के साथ वह खाओ जो तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल है।

५—यदि तुम शान्ति के साथ ऐसा भोजन करो जो तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल है तो तुम्हारे शरीर में किसी प्रकार की व्यथा न होगी।

६—जिस प्रकार आरोग्य उस मनुष्य को ढूँढ़ता है जो पेट खाली होने पर भोजन करता है, ठीक उसी प्रकार रोग उस आदमी को ढूँढ़ता हुआ आता है जो मात्रा से अधिक खाता है।

७—जो आदमी मूर्खता से अपनी जठराग्नि से परे खूब ठूँस ठूँस कर खाता है उसको अनगिनते रोग घेरे ही रहेंगे।

८—रोग, उसकी उत्पत्ति और उसका निदान, इन सबका प्रथम विचार करलो, पीछे तत्परता के साथ उसको दूर करने में लग जाओ।

९—वैद्य को चाहिए कि वह रोगी, रोग और ऋतु का पूर्ण विचार करले, तब उसके पश्चात् औषधि प्रारम्भ करे।

१०—रोगी, वैद्य, औषधि और औषधि-विक्रेता, इन चारों पर ही चिकित्सा निर्भर है और उनमें से हर एक के फिर चार चार गुण हैं।

परिच्छेद ९६

कुलीनता

उत्तम कुल के व्यक्ति में, दो गुण सहजप्रत्यक्ष ।
प्यारी 'लज्जा' एक है, दूजा सच्चा 'पक्ष' ॥१॥

सदाचार लज्जा मधुर, और सत्य से प्रीति ।
इनसे कभी न चूकना, यह कुलीन की रीति ॥२॥

सद्वंशज में चार गुण, होते बहुत अमोल ।
कर उदार, पर गर्वबिन, हँसमुख, मीठे बोल ॥३॥

कोटिद्रव्य का लाभ हो, चाहे कर अघ काम ।
बड़े पुरुष तो भी नहीं, करते दूषित नाम ॥४॥

देखो वंशज श्रेष्ठजन, जिनका कुल प्राचीन ।
त्यागें नहीं उदारता, यद्यपि हों धनहीन ॥५॥

कुल के उत्तम कार्य का, ध्यान जिन्हें प्रतियाम ।
करें न वञ्चकवृत्ति वे, और न खोटे काम ॥६॥

वरवंशज के दोष को, देखें सब ही लोग ।
ज्यों दिखता है चन्द्र का, सब को लांछनयोग ॥७॥

उच्चवंश का निंद्य, यदि, करता वाक्यप्रयोग ।
करते उसके जन्म में, आशंका तब लोग ॥८॥

तरु कहता ज्यों भूमिगुण, पाकर फल का काल ।
वाणी त्यों ही बोलती, नर के कुल का हाल ॥९॥

चाहो सद्गुण शील तो, करो यत्न लज्जार्थ ।
और प्रतिष्ठित वंश तो, आदर करो परार्थ ॥१०॥

परिच्छेद ९६

कुलीनता

१—न्याय-प्रियता और लज्जाशीलता स्वभावत: उन्हीं लोगों में होती है जो अच्छे कुल में जन्म लेते हैं।

२—सदाचार, सत्यप्रियता और सलज्जता, इन तीन बातों से कुलीन पुरुष कभी पद-स्खलित नहीं होते।

३—सच्चे कुलीन सज्जन में ये चार गुण पाये जाते हैं—हँसमुख चेहरा, उदार हाथ, मृदुभाषण और स्निग्ध-निरभिमान।

४—कुलीन पुरुष को करोड़ों रुपये मिलें तब भी वह अपने नाम को कलङ्कित न होने देगा।

५—उन प्राचीन कुलों के वंशजों की ओर देखो, जो अपने ऐश्वर्य के क्षीण हो जाने पर भी अपनी उदारता नहीं छोड़ते।

६—देखो, जो लोग अपने कुल के प्रतिष्ठित आचारों को पवित्र रखना चाहते हैं, वे न तो कभी धोखेबाजी से काम लेंगे और न कुकर्म करने पर उतारू होंगे।

७—प्रतिष्ठित कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य के दोष पर चन्द्रमा के कलङ्क की तरह विशेष रूप से सबकी दृष्टि पड़ती है।

८—अच्छे कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य के मुख से यदि फूहड़ और निकम्मी बातें निकलेंगी तो लोग उसके जन्म के विषय तक में शङ्का करने लगेंगे।

९—भूमि की विशेषता का पता उसमें उगने वाले पौधे से लगता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मुख से जो शब्द निकलते हैं उनसे उसके कुल का हाल मालूम हो जाता है।

१०—यदि तुम नेकी और सद्गुणों के इच्छुक हो तो तुमको चाहिए कि सलज्जता के भाव का उपार्जन करो और तुम अपने वंश को सम्मानित बनाना चाहते हो तो तुम सब लोगों के साथ आदर-मय व्यवहार करो।

परिच्छेद १७

प्रतिष्ठा

आत्मा का जिससे पतन, करो न वह तुम कार्य ।
प्राणों की रक्षार्थ भी, चाहे हो अनिवार्य ॥१॥

पीछे भी जो चाहते, कीर्ति सहित निज नाम ।
गौरव के भी अर्थ वे, करें न अनुचित काम ॥२॥

करो ऋद्धि में भव्य नर, विनयश्री की वृष्टि ।
क्षीणदशा में मान की, रखो सदा पर दृष्टि ॥३॥

दूषित गौरव से मनुज, त्यों ही लगता हीन ।
बालों की कटकर लटें, ज्यों हों मानविहीन ॥४॥

रत्ती सा भी स्वल्प यदि, करे मनुज दुष्कर्म ।
गिरि सम उच्च प्रभाव का, क्षुद्र बने वेशर्म ॥५॥

स्वर्ग कीर्ति के स्थान में, जो दे घृणा विरक्ति ।
जीना फिर क्यों चाहते करके उसकी भक्ति ॥६॥

मृतरुचि की पदभक्ति से, उत्तम यह ही एक ।
निर्विकल्प, निजभाग्य को, भोगे नर रख टेक ॥७॥

ऐसी कौन अमूल्य निधि, रे नर ! यह है खाल ।
गौरव को भी बेच जो, रखता इसे सँभाल ॥८॥

केशों की रक्षार्थ ज्यों, तजती चमरी प्राण ।
करे मनस्वी मानहित, त्यों ही महा प्रयाण ॥९॥

देख मिटा निज रूप जो, जीवित रहे न तात ।
वेदी पर उसकी चढ़ें, भक्ति-पुष्प दिनरात ॥१०॥

परिच्छेद १७

प्रतिष्ठा

१—उन बातों से सदा दूर रहो कि जो तुम्हें नीचे गिरा देंगी, चाहे वे प्राण-रक्षा के लिए अनिवार्य रूप से ही आवश्यक क्यों न हों।

२—जो लोग अपने पीछे यशस्वी नाम छोड़ जाना चाहते हैं, वे अपने गौरव बढ़ाने के लिए भी वह काम न करें कि जो उचित नहीं है।

३—समृद्धि की अवस्था में तो नम्रता और विनय की विस्फूर्ति करो, लेकिन हीन स्थिति के समय मान-मर्यादा का पूरा ध्यान रक्खो।

४—जिन लोगों ने अपने प्रतिष्ठित नाम को दूषित बना डाला है, वे बालों की उन लटों के समान हैं कि जो काटकर फेंक दी गयी हैं।

५—पर्वत के समान उच्च प्रभावशाली लोग भी बहुत ही क्षुद्र दिखाई पड़ने लगेंगे यदि वे कोई दुष्कर्म करेंगे, फिर चाहे वह कर्म घुंघची के समान ही छोटा क्यों न हो।

६—न तो जिससे यशोवृद्धि ही होती है और न स्वर्ग प्राप्ति, फिर मनुष्य ऐसे आदमी की शुश्रूषा करके क्यों जीना चाहता है कि जो उससे घृणा करता है।

७—अपने तिरस्कार करने वाले के सहारे रहकर उदरपूर्ति करने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि मनुष्य बिना हीला हवाला किये अपने भाग्य में लिखे हुए को भोगने के लिए पूरा तैयार हो जाय।

८—अरे ? यह खाल क्या ऐसी अमूल्य वस्तु है कि जो अपनी प्रतिष्ठा बेंच कर भी इसे बचाये रखना चाहते हैं।

९—चमरी गौ अपने प्राण त्याग देती है जबकि उसके बाल काट लिये जाते हैं कुछ मनुष्य भी ऐसे ही मानी होते हैं कि जब वे अपनी मानमर्यादा नहीं रख सकते तो अपनी जीवन लीला का अन्त कर डालते हैं।

१०—जो मनस्वी अपने शुभनाम के नष्ट हो जाने पर जीवित नहीं रहता सारा संसार हाथ जोड़ कर उसकी सुयश-मयी वेदी पर भक्ति की भेंट चढ़ाता है।

परिच्छेद ९८

महत्त्व

उच्चकार्य की चाह को, कहते विबुध महत्त्व ।
और क्षुद्रता है वही, जहाँ नहीं यह तत्त्व ॥१॥

सब ही मानव एक से, नहीं जन्म में भेद ।
कीर्ति नहीं पर एकसी, कारण, कृति में भेद ॥२॥

नहीं वंश से उच्च नर, यदि हो भ्रष्टचरित्र ।
और न नीचा जन्म से, यदि हो शुद्धचरित्र ॥३॥

आत्मशुद्धि के साथ में, जब हो सद्व्यवहार ।
सतीशील सम उच्चता, तब रक्षित विधिवार ॥४॥

साधन के व्यवहार में, हैं जो बड़े धुरीण ।
वे अशक्य भी कार्य में, होते सहज प्रवीण ॥५॥

क्षुद्रों में ऐसी अहो, होती एक कुटेव ।
आर्य-विनय उनकी कृपा, नहीं रुचे स्वयमेव ॥६॥

ओछों को यदि दैव वस, मिलजावे कुछ द्रव्य ।
इतराते निस्सीम तो, बनकर पूर्ण अभव्य ॥७॥

बिना दिखावट उच्चनर, सहज विनय के कोष ।
क्षुद्र मनुज पर विश्व में, करते निजगुण घोष ॥८॥

लघुजन से भी उच्चनर, करें सदय व्यवहार ।
क्षुद्र दिखें, पर गर्व के, मूर्तमान अवतार ॥९॥

ढाँके पर के दोष को, सज्जन दिया-निधान ।
छिद्रों को पर ढूँढ़ते, दुर्जन ही अज्ञान ॥१०॥

परिच्छेद ९८

महत्व

१—महान् कार्यों के सम्पादन करने की आकांक्षा को ही लोग महत्त्व के नाम से पुकारते हैं और ओछापन उस भावना का नाम है जो कहती है कि मैं उसके बिना ही रहूँगी ।

२—उत्पत्ति तो सब लोगों की एक ही प्रकार की होती है परन्तु उनकी प्रसिद्धि में विभिन्नता होती है, क्योंकि उनके जीवन में महान् अन्तर होता है ।

३—उत्तम कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि कोई सच्चरित्र नहीं है तो वह उच्च नहीं हो सकता और हीनवंश में जन्म लेने मात्र से कोई पवित्र आचार वाला नीच नहीं हो सकता ।

४—रमणी के सतीत्व की तरह महत्त्व की रक्षा भी केवल अन्तरात्मा की शुद्धि से ही की जा सकती है ।

५—महान् पुरुषों में समुचित साधनों को उपयोग में लाने और ऐसे कार्यों के सम्पादन करने की शक्ति होती है कि जो दूसरों के लिए असाध्य होते हैं ।

६—छोटे आदमियों के बीज का ही यह विशेष दोष है कि जो वे महान् पुरुषों की प्रतिष्ठा, उनकी कृपादृष्टि और अनुग्रह को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते ।

७—ओछी प्रकृति के आदमियों के हाथ यदि कहीं कोई सम्पत्ति लग जाय तो फिर उनके इतराने की कोई सीमा ही न रहेगी ।

८—महत्ता सर्वथा ही विनयशील और आडम्बर रहित होती है, परन्तु क्षुद्रता सारे संसार मे अपने गुणों का ढिंढोरा पीटती फिरती है ।

९—महत्ता सदैव अपने से छोटों के प्रति भी सदय और नम्र व्यवहार ही करती है, परन्तु क्षुद्रता को तो घमण्ड की मूर्ति ही समझो ।

१०—बड़प्पन सदैव ही दूसरों के दोषों को ढँकने के यत्न में रहता है, पर ओछापन दूसरों के दोषों को खोजने के सिवाय और कुछ करना ही नहीं जानता ।

परिच्छेद ९९

योग्यता

ईप्सित, जिसको योग्यता, देख बृहत्तर कार्य ।
वे उसके कर्तव्य में, जो दें गुण का कार्य ॥१॥

सभ्यों का सौन्दर्य है, उनका पुण्य-चरित्र ।
रूप जिसे कुछ भी अधिक, करता नहीं विचित्र ॥२॥

सब से उत्तम प्रीति हो, सब से सद्व्यवहार ।
आच्छादन पर-दोष का, लज्जा उच्च उदार ॥
पक्ष सदा हो सत्य का, सब गुण हों निर्दम्भ ।
सदाचार के पाँच ही, ये होते हैं स्तम्भ ॥३॥ (युग्म)

ऋषियों का ज्यों धर्म है, करना करुणा-भाव ।
भद्रों का त्यों धर्म है, तजना निन्दक-भाव ॥४॥

लघुता और विनम्रता, सबल शक्ति असमान ।
शत्रुविजय में भद्र को, ये हैं कवच-समान ॥५॥

जाँचन को नर योग्यता, यही कसौटी एक ।
लघु का भी आदर जहाँ, होता सहित विवेक ॥६॥

बढ़ी चढ़ी भी योग्यता, दिखती तब है व्यर्थ ।
सभ्य नहीं वर्ताव जब, वैरी के भी अर्थ ॥७॥

निर्धनता के दोष से, होते सब गुण मन्द ।
फिर भी शुभ आचार से, बढ़ता गौरवकन्द ॥८॥

त्यागें नहीं सुमार्ग जो, पाकर विपदा-कार्य ।
सीमा हैं योग्यत्व की, प्रलयावधि वे आर्य ॥९॥

भद्रपुरुष जब त्याग दें, हा हा भद्राचार ।
तब ही मानव-जाति का, धरिणी सहे न भार ॥१०॥

परिच्छेद ९९

योग्यता

१—जो लोग अपने कर्तव्य को जानते हैं और अपनी योग्यता बढ़ाना चाहते हैं उनकी दृष्टि में सभी सत्कृत्य कर्तव्यस्वरूप हैं ।

२—लायक लोगों के आचरण की सुन्दरता ही वास्तविक सुन्दरता है, शारीरिक सुन्दरता उसमें कुछ भी अभिवृद्धि नहीं करती ।

३—सार्वजनिक प्रेम, सलज्जता का भाव, सबके प्रति सद्व्यवहार, दूसरों के दोषों को ढाँकना और सत्य-प्रियता, ये पाँच शुभाचरण रूपीभवन के आधारस्तम्भ हैं ।

४—सन्त लोगों का धर्म है अहिंसा, पर योग्य पुरुषों का धर्म है पर—निन्दा से परहेज करना ।

५—नम्रता बलवानों की शक्ति है और वह वैरियों का सामना करने के लिए सद्गृहस्थ को कवच का काम भी देती है ।

६—योग्यता की कसौटी क्या है ? यही कि दूसरों में जो बड़प्पन और श्रेष्टता है उसको स्वीकार कर लिया जाय, फिर चाहे वह श्रेष्ठता ऐसे ही लोगों में क्यों न हो जो कि तुमसे अन्य बातों में हीन हों ।

७—लायक पुरुष की लायकी तब किस काम की जबकि वह अपने को क्षति पहुँचाने वालों के साथ भी सद्वर्ताव नहीं करता ?

८—निर्धनता मनुष्य के लिए अपमान का कारण नहीं हो सकती यदि उसके पास वह सम्पत्ति विद्यमान हो कि जिसे लोग सदाचार कहते हैं ।

९—जो लोग सन्मार्ग से कभी विचलित नहीं होते, चाहे प्रलय-काल मे और सब कुछ बदलकर इधर का उधर हो जाय पर वे योग्यता रूपी समुद्र की सीमा ही रहेंगे ।

१०—निस्सन्देह स्वयं धरती भी मनुष्य के जीवन का बोझ न सँभाल सकेगी यदि लायक लोग अपनी लायकी को छोड़कर पतित हो जावें ।

परिच्छेद १००

सभ्यता

प्रायः हँसमुख लोक में, होते वे ही लोग ।
मिलें हृदय को खोल जो, बोलें मिष्ट प्रयोग ॥१॥

ज्ञानमूल संस्कार हो, मन हो करुणागार ।
तब दोनों के मेल से, उपजें हर्ष-विचार ॥२॥

आकृति के ही साम्य को, प्राज्ञ न माने साम्य ।
भाव तथा आचार का, होता सच्चा साम्य ॥३॥

धर्म तथा शुभनीति से, जो करता उपकार ।
उसके पुण्यस्वभाव के, सब ही श्लाघाकार ॥४॥

कटुक वचन छेदे हृदय, जो भी हो परिहास ।
अरि से भी तब शब्द वे, कहो न जो दें त्रास ॥५॥

जगत सुखी निर्द्वन्द्व यदि, कारण आर्यनिवास ।
दया शान्ति का अन्यथा, क्या होवे आभास ॥६॥

नहीं विज्ञ भी श्रेष्ठ है, यदि आचारविहीन ।
काष्ठदण्ड से तीक्ष्ण भी, रेती रण में क्षीण ॥७॥

गर्हित है सर्वत्र ही, अविनय की तो बात ।
अन्यायी या शत्रु में, हो प्रयुक्त भी तात ॥८॥

जिसका मुख मुसक्यान से, खिले नहीं इसलोक ।
दिन में भी हतभाग्य वह, देखे तम ही शोक ॥९॥

ज्यों ही मलिन कुपात्र में, पय होता बेकाम ।
त्यों ही दुर्जन गेह में, वैभव बड़ा निकाम ॥१०॥

परिच्छेद १००

सभ्यता

१—कहते हैं मिलनसारी प्राय: उन लोगों में पायी जाती है कि जो खुले हृदय से सब लोगों का स्वागत करते हैं ।

२—करुणाबुद्धि और शुभ संस्कारों के मेल से ही मनुष्य में प्रसन्न प्रकृति उत्पन्न होती है ।

३—शारीरिक आकृति तथा मुखमुद्रा के मिलान से ही मनुष्यों में सादृश्य नहीं होता, बल्कि सच्चा सादृश्य तो आचार-विचार की अभिन्नता पर निर्भर है ।

४—जो लोग न्याय-निष्ठा और धर्म-पालन के द्वारा अपना तथा दूसरों का भला करते हैं संसार उनके स्वभाव का बड़ा आदर करता है ।

५—हास्य-परिहास में भी कटुबचन मनुष्य के मन में लग जाते हैं, इसलिए सुपात्र पुरुष अपने वैरियों के साथ भी असभ्यता से नहीं बोलते ।

६—सुसंस्कृत मनुष्यों के अस्तित्व के कारण ही जगत के सब कार्य निर्द्वन्दरूप स चल रहे हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं, यदि ये आर्य पुरुष न होते तो यह अक्षुण्य-साम्य और स्वारस्य मृतप्राय होकर धूल में मिल जाता ।

७—रेती तीक्ष्ण भी हो पर वह युद्ध में लाठी से बढ़कर नहीं हो सकती, ठीक इसी प्रकार आचरणहीन मनुष्य विद्वान् भी हो फिर भी वह सदाचारी से बढ़कर नहीं ।

८—अविनय मनुष्य को शोभा नहीं देती चाहे अन्यायी और विपक्षी पुरुष के प्रति ही उसका व्यवहार क्यों न हो ।

९—जो लोग मन से प्रसन्न नहीं हो सकते, उन्हें इस विशाल लम्बे चौड़े संसार में, दिन के समय भी अन्धकार के सिवाय और कुछ दिखाई न देगा ।

१०—निकृष्ट-प्रकृति पुरुष के हाथ में जो सम्पत्ति होती है वह उस दूध के समान है जो अशुद्ध, मैले वर्तन में रखने से बिगड़ गया हो।

परिच्छेद १०१

निरुपयोगी धन

खाय न खर्चे एक छदाम। तृष्णा छाई आठों याम।
रक्खा यद्यपि अधिक निधान। मूजी मुर्दा एक समान ॥१॥

धन ही भू में सब कुछ सार। करके ऐसा अटल विचार।
लोभी जोड़े द्रव्य महान। राक्षस होवे तजकर प्राण ॥२॥

जिसको धन में अति अनुराग। यश में रहता किन्तु विराग।
उसका जीवन है निस्सार। दुःखद उसका भू को भार ॥३॥

पायी नहीं पड़ौसी प्रीति। कारण वर्ती नहीं सुरीति।
फिर क्या आशा रखते तात। छोड़ सको जो निज पश्चात ॥४॥

नहीं किसी को देवे दान। और न भोगे आप निधान।
सचमुच वह है रंक खवीश। चाहे होवे कोटि अधीश ॥५॥

भू में ऐसे भी कुछ लोग। वैभव का जो करें न भोग।
और न देवें पर को दान। लक्ष्मी को वे रोग समान ॥६॥

उचित पात्र को उचित न दान। तो धन होता ऐसा भान।
सुभग सलौनी तरुणीरूप। वन में खोती आप जनूप ॥७॥

कौन अर्थ का वह है कोप। नहीं गुणी को जिससे तोष।
दुर्गुण की है एक खदान। ग्राम वृक्ष वह विष फलवान ॥८॥

नहीं विचारा धर्माधर्म। काटा पेट हुए बेशर्म।
जोड़ा वैभव विपदा धाम। आता सदा पराये काम ॥९॥

दान से खाली जो भण्डार। निधिका बनता वही अगार।
वर्षा से जो रीता मेघ। वह ही भरता फिर से मेघ ॥१०॥

परिच्छेद १०१

निरुपयोगी धन

१—जिस आदमी ने अपने घरमें ढेर की ढेर सम्पत्ति जमा कर रक्खी है पर उसे उपयोग में नहीं लाता उसमें और मुर्दे में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वह उससे कोई लाभ नहीं उठाता है।

२—वह कञ्जूस आदमी जो समझता है कि धन ही संसार में सब कुछ है और इसलिए बिना किसी को कुछ दिये ही उसे जमा करता है वह अगले जन्म में राक्षस होगा।

३—जो लोग धन के लिए सदा ही हाय हाय करते फिरते हैं पर यशोपार्जन करने की परवाह नहीं करते, उनका अस्तित्व पृथ्वी के लिए केवल भार-स्वरूप है।

४—जो मनुष्य अपने पड़ौसियों के प्रेम को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता वह मरने के पश्चात् अपने पीछे कौनसी वस्तु छोड़ जाने की आशा रखता है?

५—जो लोग न तो दूसरों को देते हैं और न स्वयं ही अपने धन का उपभोग करते हैं वे यदि करोड़पति भी हों तब भी वास्तव में उनके पास कुछ भी नहीं है।

६—संसार में ऐसे भी कुछ आदमी हैं जो धन को न तो स्वयं भोगते हैं और न उदारता पूर्वक योग्य पुरुषों को प्रदान करते हैं, वे अपनी सम्पत्ति के लिए रोग-स्वरूप हैं।

७—जो धनिक आवश्यकता वाले को दान देकर उसकी आवश्यकता को पूर्ण नहीं करता उसकी सम्पत्ति उस लावण्यमयी ललना के समान है जो अपने यौवन को एकान्त निर्जन स्थान में व्यर्थ गँवाये देती है।

८—उस आदमी की सम्पत्ति कि जिसे लोग प्यार नहीं करते गांव के बीचों बीच किसी विष-वृक्ष के फलने के समान है।

९—धर्माधर्म का विचार न रखकर और अपने को भूखों मार कर जो धन जमा किया जाता है वह केवल दूसरों के ही काम में आता है।

१०—उस धनवान मनुष्य की क्षीणस्थिति कि जिसने दान दे देकर अपने खजाने को खाली कर डाला है, और कुछ नहीं, केवल जल वर्षाने वाले बादलों के खाली हो जाने के समान है। यह स्थिति अधिक समय तक न रहेगी।

परिच्छेद १०२

लज्जाशीलता

होती लज्जा चूक से, भद्रों को सब ठौर ।
नारी लज्जा और है, यह लज्जा कुछ और ॥१॥

अन्न वस्त्र सन्तान में, सब ही मानव एक ।
करती लज्जा किन्तु है, उनमें भेद अनेक ॥२॥

यद्यपि सारी देह में, प्राणों का आवास ।
लज्जा में नर योग्यता, करती किन्तु निवास ॥३॥

लज्जा की शुभभावना, निधि है रत्न समान ।
ऐंठ भरे निर्लज्ज को, देखत कष्ट महान ॥४॥

अन्य अनादर देख जो, लज्जित आत्मसमान ।
शील तथा संकोच की, वह है मूर्ति महान ॥५॥

मिलता यदि है राज्य भी, करके निन्दित काम ।
नहीं करें फिर भी उसे, कीर्तिप्रिया के श्याम ॥६॥

बचने को अपमान से, तजते तन भी आर्य ।
डाल विपद में प्राण भी, तजें न लज्जा आर्य ॥७॥

लज्जित जिससे अन्य पर, जिसे न उसमें छेव ।
लज्जित होती भद्रता, देख उसे स्वयमेव ॥८॥

भूले कुल आचार तो, कुल से होता भ्रष्ट ।
लज्जा यदि हो नष्ट तो, सब ही सुगुण विनष्ट ॥९॥

निकल गये जिस आँख से, लज्जा जीवन प्राण ।
कठपुतली के तुल्य वह, जीवन मरण समान ॥१०॥

परिच्छेद १०२

लज्जाशीलता

१—योग्य पुरुषों का लजाना उन कामों के लिए होता है कि जो उनके अयोग्य होते हैं, इसलिए वह सुन्दरी स्त्रियों की लज्जा से सर्वथा भिन्न है।

२—आहार, वस्त्र और सन्तान, इन बातों में तो सभी मनुष्य समान हैं; यह तो एक लज्जा की ही भावना है जिससे मनुष्य मनुष्य में अन्तर प्रगट होता है।

३—शरीर तो समस्त प्राणों का निवासस्थान है, पर यह सात्विक लज्जा है जिसमें लायकी और योग्यता वास करती है।

४—लज्जाशीलता क्या लायक लोगों के लिए रत्न के समान नहीं है? और जब वह उससे रहित होता है तब उसकी शेखी और ऐंठ क्या देखने वाली आँख को पीड़ा पहुँचाने वाली नहीं होती?

५—जो लोग दूसरों का अपमान देखकर भी उतने ही लज्जित होते हैं जितने कि स्वयं अपने अपमान से, उन्हें तो लोग लज्जा और सङ्कोच की मूर्ति ही समझेंगे।

६—ऐसे साधनों के सिवाय कि जिनसे उन्हें लज्जित न होना पड़े अन्य साधनों के द्वारा, लायक लोग राज्य तक पाने के लिए नाहीं कर देंगे।

७—जिन लोगों में लज्जा की सुकोमल भावना है वे अपने को अपमान से बचाने के लिए अपनी जान तक दे देंगे और प्राणों पर आ बनने पर भी लज्जा को नहीं त्यागेंगे।

८—यदि कोई आदमी उन बातों से लज्जित नहीं होता है कि जिनसे दूसरों को लज्जा आती है, तो उसे देख कर भद्रता भी शरमा जायगी।

९—कुलाचार को भूल जाने से मनुष्य केवल अपने कुल से ही भ्रष्ट होता है, लेकिन जब वह लज्जा को भूलकर निर्लज्ज हो जाता है तब सब प्रकार की भलाइयाँ उसे छोड़ देती हैं।

१०—जिन लोगों की आँख का पानी मर गया है वे जीवित होकर भी मरे के समान हैं। डोरी के द्वारा चलने वाली कठपुतलियों की तरह उनमें भी एक प्रकार का कृत्रिम जीवन ही होता है।

परिच्छेद १०३

कुलोन्नति

नहीं थकूँगा हाथ से, करके श्रम दिन रात ।
नर का यह संकल्प ही, कुल का पुण्य–प्रभात ॥१॥

पूर्ण कुशल सद्बुद्धि हो, श्रम हो पौरुषरूप ।
वंश समुन्नति के लिए, दो ही हेतु स्वरूप ॥२॥

वंशोन्नति के अर्थ जब, नर होता सन्नद्ध ।
उसके आगे देव तब, चलते हो कटिबद्ध ॥३॥

उच्चदशा पर वंश हो, ऐसा मन में ठान ।
उठारखे नहिं शेष जो, बनकर उद्यमवान ॥
श्रेष्ठमनस्वी वीर वह, कृति उसकी गुणवान ।
चाहे यद्यपि अल्प हो, तो भी सिद्धि महान ॥४॥ (युग्म)

वंशोन्नति का हेतु है, जिसका पुण्य चरित्र ।
सदा मान्य वह उच्च नर, उसका जग है मित्र ॥५॥

धन में बल में ज्ञान में, कुल पावे उच्चार्थ ।
नर के जिस ही यत्न से, सत्य वही पुरुषार्थ ॥६॥

ज्यों पड़ते हैं वीर पर, रण में रिपु के वार ।
त्यों ही आता लोक में, कर्मठ पर कुलभार ॥७॥

उन्नति-रागी को सभी, भले लगें दिन–रात ।
चूक करे से अन्यथा, होता वंश–विघात ॥८॥

कुलपालक की काय लख, उठता एक विचार ।
विपदा या श्रम अर्थ क्या, दैव रचा आकार ॥९॥

जिस घर का उत्तम नहीं, रक्षक पालनहार ।
जड़ पर विपदा–चक्र पड़, मिटता वह परिवार ॥१०॥

परिच्छेद १०३

कुलोन्नति

१—मनुष्य की यह प्रतिज्ञा कि "मैं अपने हाथों से मेहनत करने में कभी न थकूंगा" उसके परिवार की उन्नति में जितनी सहायक होती है उतनी और कोई वस्तु नहीं ।

२—श्रम भरा हुआ पुरुषार्थ और कार्यकुशल सद्बुद्धि, इन दोनों की परिपक्वपूर्णता ही परिवार को ऊँचा उठाती है ।

३—जब कोई मनुष्य यह कहकर काम करने पर उतारू होता है कि मैं अपने कुल की उन्नति करूँगा तो स्वयं देवता लोग अपनी अपनी कमर कसकर उसके आगे आगे चलते हैं ।

४—जो लोग अपने कुटुम्ब को ऊँचा उठाने में कुछ उठा नहीं रखते वे इसके लिए यदि कोई सुविस्तृत युक्ति न भी निकालें तो भी उनके हाथ से किये हुए काम में सिद्धि होगी ।

५—जो आदमी विना किसी अनाचार के अपने कुल को उन्नत बनाता है, सारा जगत उसको अपना मित्र समझेगा ।

६—पुरुष का सच्चा पुरुषत्व तो इसी में है कि जिसमें उसने जन्म लिया है उस वंश को धन में, बल में और ज्ञान में ऊँचा बनादे ।

७—जिस प्रकार युद्धक्षेत्र मे आक्रमण का प्रकोप शूरवीर पर पड़ता है ठीक इसी तरह परिवार के पालन–पोषण का भार उन्हीं कन्धों पर आता है कि जो उसके बोझ को सँभाल सकते हैं ।

८—जो लोग अपने कुल की उन्नति करना चाहते हैं उनके लिए कोई समय वे–समय नहीं है और यदि वे असावधानी से काम लेंगे तथा अपनी झूठी शान पर अड़े रहेंगे तो उनके कुटुम्ब को नीचा देखना पड़ेगा ।

९—क्या सचमुच उस आदमी का शरीर, कि जो अपने परिवार को हर प्रकार की विपत्ति से बचाना चाहता है, सर्वथा परिश्रम और कष्टों के लिए ही बना है ?

१०—जिस घर में सँभालने वाला कोई योग्य आदमी नहीं है, आपत्तियाँ उसकी जड़ को काट डालेंगी और वह मिट्टी मे मिल जायगा ।

परिच्छेद १०४

खेती

रहे मनुज भू में कहीं, उसे अपेक्षित अन्न ।
वह मिलता कृषि से अतः, कृषि रखिए आसन्न ॥१॥
देशरूप रथ के धुरा, कृषकवर्ग ही ख्यात ।
कारण पलते अन्य सब, उनसे ही दिन-रात ॥२॥
उनका जीवन सत्य जो, करते कृषि उद्योग ।
और कमाई अन्य की, खाते बाकी लोग ॥३॥
सोते साखा छाँह में, खेत जहाँ सर्वत्र ।
उस जनपद के छत्र को, झुकते सब ही छत्र ॥४॥
कृषिजीवी के भाग्य पर, लिखा न भिक्षावेध ।
यह ही क्यों वह दान भी, देता बिना निषेध ॥५॥
निज कर को यदि खींच ले, कृषि से कृषकसमाज ।
गृहत्यागी तब साधु तक, टूटे शिर पर गाज ॥६॥
आर्द्रभूमि के धूप में, शुष्क करो बहु अंश ।
खाद बिना उपजाऊ हो, बच कर चौथा अंश ॥७॥
जोतो नींदो खेत को, खाद बड़ा पर तत्व ।
सींचे से रक्षा उचित, रखती अधिक महत्व ॥८॥
नहीं देखता भालता, कृषि को रह कर गेह ।
गृहिणी सम तब रूठती, कृषि भी कृश कर देह ॥९॥
खाने को कुछ भी नहीं, यों जो करे विलाप ।
हँसती उस मतिमन्द पर, धरिणी-लक्ष्मी आप ॥१०॥

परिच्छेद १०४

खेती

१—आदमी जहाँ चाहे घूमें, पर अन्त में अपने भोजन के लिए उसे हल का सहारा लेना ही पड़ेगा। इसलिए हर तरह की सख्ती होने पर भी कृषि सर्वोत्तम उद्यम है।

२—किसान लोग देशके लिए धुरी के समान हैं, क्योंकि जोतने खोदने की शक्ति न होने के कारण जो लोग दूसरे काम करने लगते हैं उनको रोजी देने वाले वे ही लोग हैं।

३—जो लोग हल के सहारे जीते हैं वास्तव में वे ही जीते हैं और सब लोग तो दूसरे की कमाई हुई रोटी खाते हैं।

४—जहाँ के खेत लहलहाती हुई शस्य की श्यामल छाया के नीचे सोया करते हैं वहाँ के राजा के छत्र के सामने अन्य राजाओं के छत्र झुक जाते हैं।

५—जो लोग खेती करके जीविका चलाते हैं वे केवल यही नहीं, कि स्वयं कभी भीख न माँगेंगे, बल्कि दूसरे भीख माँगने वालों को कभी नाहीं किये बिना दान भी दे सकेंगे।

६—किसान यदि खेती से अपने हाथ को खींच लेवें तो उन लोगों को भी कष्ट हुए बिना न रहेगा कि जिन्होंने समस्त वासनाओं का परित्याग कर दिया है।

७—यदि तुम अपने खेत की धरती को इतना सुखाओ कि एक सेर मिट्टी सूखकर चौथाई अंश रह जाय तो मुट्ठी भर खाद की भी आवश्यकता न होगी और फसल की पैदावार भरपूर होगी।

८—जोतने की अपेक्षा खाद डालने से अधिक लाभ होता है और जब निदाई हो जाती है तो सिंचाई की अपेक्षा रखवाली अधिक महत्त्व रखती है।

९—यदि कोई आदमी खेत देखने नहीं जाता है और अपने घर पर ही बैठा रहता है तो पतिव्रता पत्नी की तरह उसकी कृषि भी रुष्ट हो जायगी।

१०—वह सुन्दरी जिसे लोग धरिणी कहते हैं, अपने मन ही मनमें हँसा करती है जबकि वह किसी काहिल को यह कह रोते हुए देखती है कि "हाय मेरे पास खाने को कुछ भी नहीं है।"

परिच्छेद १०५

दरिद्रता

निर्धनता से अन्य क्या, बढ़कर दुःखद वस्तु ।
तो सुनलो दारिद्र ही, सबसे दुःखद वस्तु ॥१॥

इस भव के सब हर्ष ज्यों, हरता शठ दारिद्र ।
पर भव के भी भोग त्यों, हनता है दारिद्र ॥२॥

तृष्णाभरी दरिद्रता, सचमुच बड़ी बलाय ।
वाणी कुल की उच्चता, हनती क्षण में हाय ॥३॥

हीनदशा नर को अहो, देती कष्ट महान ।
बोले वंशज हीन सम, तजकर कुल की आन ॥४॥

सचमुच है दारिद्र भी, विधि को ही अभिशाप ।
छिपे हजारों हैं जहाँ, विपदामय सन्ताप ॥५॥

निर्धन जनके श्रेष्ठ भी, गुण हैं कीर्तिविहीन ।
प्रवचन भी रुचता नहीं, उसका गुण से भीन ॥६॥

पहिले ही धनहीन हो, साथ धर्म की हानि ।
उसकी जननी ही उसे, करती मन से ग्लानि ॥७॥

क्या मुझ से दारिद्र तू, आज न होगा दूर ।
अर्धमृतक सम था किया, कल ही तो हे क्रूर ॥८॥

तपे हुए भी शूल हों, उनपर सम्भव नींद ।
निर्धन को सम्भव नहीं, आनी सुख की नींद ॥९॥

नहींरङ्कता नाश को, रंक करें उद्योग ।
अन्नादिक पर द्रव्य की, तो हत्या का योग ॥१०॥

परिच्छेद १०५

दरिद्रता

१—क्या तुम जानना चाहते हो कि दरिद्रता से बढ़कर दुःखदायी वस्तु और क्या है ? तो सुनो दरिद्रता ही दरिद्रतासे बढ़कर दुखदायी है।

२—सत्तानाशिन दरिद्रता इस जन्म के सुखों की तो शत्रु है ही पर साथ ही साथ दूसरे जन्म के सुखोपभोग की भी घातक है।

३—ललचाती हुई कङ्गाली वंश-मर्यादा और उसकी श्रेष्ठता के साथ वाणी के माधुर्य तक की हत्या कर डालती है।

४— गरज, ऊँचे कुल के आदमियों तक की आन छुड़ाकर उन्हें अत्यन्त निकृष्ट और हीनदासता की भाषा बोलने के लिए विवश करती है।

५—उस एक अभिशाप के नीचे कि 'जिसे लोग दरिद्रता कहते हैं' हजार तरह की आपत्तियां और उपद्रव छिपे हुए हैं।

६—निर्धन आदमी, बड़ी कुशलता और प्रौढ़ पाण्डित्य के साथ अगाधतत्त्वज्ञान की भी विवेचना करे तो भी उसके शब्दों की कोई कीमत नहीं होती।

७—एक तो कङ्गाल हो और फिर धर्म से शून्य, ऐसे अभागे दरिद्री से तो उसको जन्म देने वाली माता का भी मन फिर जायगा।

८—क्या नादारी आज भी मेरा साथ न छोड़ेगी ? कल ही तो उसने मुझे अधमरा कर डाला था।

९—जलते हुए शूलों के बीच में सोजाना भले ही संभव हो पर निर्धनता की दशा में आँख का झपना भी असंभव है।

१०—गरीब लोग दरिद्रता से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए यदि उद्योग नहीं करते हैं तो इससे केवल दूसरों के भात, निमक, पानी की ही मृत्यु होती है।

परिच्छेद १०६

भिक्षा

मांगो उनसे तात तुम, जिनका उत्तम कोष ।
कभी बहाना वे करें, तो उनका ही दोष ॥१॥

जो मिलती है भाग्यवश, विना हुए अपमान ।
वह ही भिक्षा चित्त को, देती हर्ष महान ॥२॥

जो जाने कर्तव्य को, नहीं बहानेबाज ।
ऐसे नर से मांगना, रखता शोभा-साज ॥३॥

जहाँ न होती स्वप्न में, विफल कभी भी भीख ।
कीर्ति बढ़े निज दान सम, लेकर उससे भीख ॥४॥

भिक्षा से ही जीविका, करते लोग अनेक ।
कारण इसमें विश्व के, दानशूर ही एक ॥५॥

नहीं कृपण जो दान को, वे है धन्य धुरीण ।
उनके दर्शन मात्र से, दुःस्थिति होती क्षीण ॥६॥

विना झिड़क या क्रोध के, दें जो दया-निधान ।
याचक उनको देख कर, पाते हर्ष महान ॥७॥

दानप्रवर्तक भिक्षुगण, जो न धरें अवतार ।
कठपुतली का नृत्य ही, तो होवे संसार ॥८॥

भिक्षुकगण भी छोड़ दें, भिक्षा का यदि काम ।
तब वैभव औदार्य का, बसे कौन से धाम ॥९॥

भिक्षुक करे न रोष तब, जब दाता असमर्थ ।
कारण स्थिति एकसी, कहती नहीं समर्थ ॥१०॥

परिच्छेद १०६

भिक्षा

१—यदि तुम ऐसे साधनसम्पन्न व्यक्ति देखते हो कि जो तुम्हें दान दे सकते हैं तो तुम उनसे माँग सकते हो, यदि वे न देने का बहाना करते हैं, इसमें उनका दोष है तुम्हारा नहीं।

२—यदि तुम विना किसी तिरस्कार के जो पाना चाहते हो वह पा सको तो माँगना आनन्ददायी होता है।

३—जो लोग अपने कर्तव्य को समझते हैं और सहायता न देने का झूठा बहाना नहीं करते उनसे माँगना शोभनीय है।

४—जो मनुष्य स्वप्न में भी किसी की याचना को अमान्य नहीं करता उस आदमी से माँगना उतना ही सम्मानपूर्ण है जितना कि स्वयं देना।

५—यदि आदमी, भीख को जीविका का साधन बनाकर निस्संकोच मांगते हैं तो इसका कारण यह है कि संसार में ऐसे मनुष्य हैं जो मुक्तहस्त होकर दान देने से विमुख नहीं होते।

६—जिन सज्जनों में दान देने के लिए क्षुद्र कृपणता नहीं है उनके दर्शनमात्र से ही दरिद्रता के सब दुःख दूर हो जाते हैं।

७—जो सज्जन याचक को विना झिड़क या क्रोध के दान देते हैं उनसे मिलते ही याचक आनन्दित हो उठते हैं।

८—यदि दानधर्मप्रवर्तक याचक न हों तो इस सारे संसार का अर्थ कठ-पुतली के नाच से अधिक नहीं होगा।

९—यदि इस संसार में कोई मांगने वाला न हो तो उदारतापूर्वक दान देने की शान कहाँ रहेगी ?

१०—याचक को चाहिए कि यदि दाता देने में असमर्थता प्रगट करता है तो उस पर क्रोध न करे, कारण कि उसकी आवश्यकतायें ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए कि दूसरे की स्थिति उस जैसी ही हो सकती है।

परिच्छेद १०७

भीख माँगने से भय

भिक्षुक और अभिक्षु में, कोटि गुणा का फेर ।
हो वदान्य दाता भले, धन में पूर्ण कुबेर ॥१॥
नर होकर भिक्षा करे, ऐसा जिसको इष्ट ।
सृष्टि-विधाता वह मरे, भव में भ्रमें अनिष्ट ॥२॥
निर्लज्जों में सत्य वह, सर्वाधिक निर्लज्ज ।
जो कहता मैं भीख से, करदूँ श्री को सज्ज ॥३॥
अतिनिर्धन होकर नहीं, याचे पर से द्रव्य ।
निज गौरव से धन्य वह, भू भी उसे अद्रव्य ॥४॥
निज कर के श्रम से मिले, भोजन विना विषाद ।
पतला भी वह नीर सम, देता अति ही स्वाद ॥५॥
एक शब्द से याचना, है निन्दार्थ समर्थ ।
माँगो चाहे नीर भी, गौ के ही तुम अर्थ ॥६॥
भिक्षुकगण से एक मैं, माँगूं भिक्षा भ्रात ।
मत माँगो उनसे कभी, हीला जिनकी बात ॥७॥
दाता का हीला लगे, भिक्षुक का विषघूँट ।
मानो वाणीपोत ही, गया शिला से टूट ॥८॥
भिक्षुक--जन के भाग्य को, सोच कँपे यह जीव ।
और अवज्ञा देख फिर, मरता तात अतीव ॥९॥
कहाँ निषेधक के छिपें, क्या जाने ये प्राण ।
मिलते ही धिक्कार पर, निकलें याचक प्राण ॥१०॥

परिच्छेद १०७

भीख माँगने से भय

१—जो आदमी भीख नहीं माँगता वह भीख माँगने वाले से करोड़ गुना अच्छा है, फिर वह माँगने वाला चाहे ऐसे ही आदमियों से क्यों न माँगे कि जो बड़े उत्साह और प्रेम से दान देते हैं।

२—जिसने इस सृष्टि को पैदा किया है, यदि उसने यह निश्चय किया था कि मनुष्य भीख माँगकर भी जीवन-निर्वाह करे तो वह भव-सागर में मारा मारा फिरे और नष्ट हो जाय ।

३—उस निर्लज्जता से बढ़कर और कोई निर्लज्जता नहीं है कि जो यह कहती है कि मैं माँग माँग कर अपनी दरिद्रता का अन्त कर डालूँगी ।

४—बलिहारो है उस आन की, कि जो नितान्त कङ्गाली की हालत में भी किसी के सामने हाथ फैलाने के लिए सम्मति नहीं देती । यह सारा जगत् उस महान् मानव के रहने के लिए बहुत ही छोटा और अपर्याप्त है ।

५—जो भोजन अपने परिश्रम से कमाया हुआ होता है, वह पानी की तरह पतला ही क्यों न हो, तब भी उससे बढ़कर स्वादिष्ट और कोई वस्तु नहीं हो सकती ।

६—तुम चाहे गाय के लिए पानी ही क्यों न माँगो, फिर भी जिह्वा के लिए याचनासूचक शब्दों को उच्चारण करने से बढ़कर अपमान-जनक बात और कोई नहीं है ।

७—जो लोग माँगते हैं उन सबसे मैं भी एक भिक्षा माँगता हूँ कि यदि तुम्हें माँगना ही है तो उन लोगों से न माँगो कि जो देने के लिए हीला-हवाला करते हैं ।

८—याचना का अभागा जहाज उसी क्षण टूटकर टुकड़े टुकड़े हो जायगा कि जिस समय वह हीलासाजी की चट्टान से टकरायेगा।

९—भिखारी के दुर्भाग्य का विचार करते ही हृदय काँप उठता है परन्तु जब वह उन झिड़कियों पर गौर करता है कि जो भिखारी को सहनी पड़ती हैं तब तो वह मर ही जाता है ।

१०—मना करने वाले की जान उस समय कहाँ जाकर छिप जाती है कि जब वह "नाहीं" कहता है ? भिखारी की जान तो झिड़की की आवाज सुनते ही तन से निकल जाती है ।

परिच्छेद १०८

भ्रष्ट जीवन

अहो पतित ये भ्रष्ट जन, नर से दिखें अनन्य ।
हमने ऐसा साम्य तो, कहीं न देखा अन्य ॥१॥

आर्य विवेकी से अधिक, सुखयुत होते भ्रष्ट ।
कारण मानस-दुःख का, उन्हें न व्यापे कष्ट ॥२॥

अहो जगत में भ्रष्ट भी, लगते ईश समान ।
रहें स्वशासित नित्य वे, इससे वैसा भान ॥३॥

महादुष्ट जब अन्य में, देखे न्यून अधर्म ।
कहता वह तब गर्व से, पाप-भरे निज कर्म ॥४॥

भय से अथवा लोभ से, चलते दुष्ट सुमार्ग ।
चलते हैं वे अन्यथा, सदा अशुभ ही मार्ग ॥५॥

अधम पुरुष पुर ढोल सम, खोलें पर की सैंन ।
बिना कहे पर भेद को, मिले न उनको चैन ॥६॥

घूँसे से मुख तोड़ दे, उसके वश में नीच ।
जूँठा कर भी अन्यथा, नहीं झटकता नीच ॥७॥

एक वाक्य ही योग्य को, होता है पर्याप्त ।
गन्ने सम ही क्षुद्र दें, पीड़ित हो पर्याप्त ॥८॥

सुखी पड़ौसी देख खल, होता अधिक सरोष ।
लाता उसपर कोई सा, निन्दित भारी दोष ॥९॥

क्षुद्र मनुजपर आपदा, आजावे यदि टूट ।
तो आत्मा को शीघ्र ही, बेच करे निज छूट ॥१०॥

परिच्छेद १०८

भ्रष्ट जीवन

१—ये भ्रष्ट और पतित जीव मनुष्यों से कितने मिलते जुलते हैं हमने ऐसा पूर्ण सादृश्य और कहीं नहीं देखा।

२—शुद्ध अन्त:करण वाले लोगों से ये हेय जीव कहीं अधिक सुखी हैं क्योंकि उन्हें मानसिक विकारों की चुटकियाँ नहीं सहनी पड़तीं।

३—जगत में भ्रष्ट और पतित जन भी प्रत्यक्ष ईश्वरतुल्य हैं, कारण वे भी उसके समान ही स्वशासित अर्थात् अपनी मर्जी के पावन्द होते हैं।

४—जब कोई दुष्ट मनुष्य ऐसे आदमी से मिलता है जो दुष्टता में उससे कम है तो वह अपने वढ़े चढ़े दुष्कृत्यों का वर्णन उसके सामने वड़े मान से करता है।

५—दुष्ट लोग केवल भय के मारे ही सन्मार्ग पर चलते हैं और या फिर इसलिए कि ऐसा करने से उन्हें कुछ लाभ की आशा हो।

६—पतित जन ढिंढोरे के ढोल के समान होते हैं क्योंकि उनको जो गुप्त वातें विश्वास रखकर वताई जाती हैं, उन्हें दूसरों में प्रगट किये विना उनको चैन ही नहीं पड़ती।

७—नीच प्रकृति के आदमी उन लोगों के सिवाय कि जो घूँसा मार कर उनका जवड़ा तोड़ सकते हैं, और किसी के आगे भोजन से सने हुए हाथ झटक देने मे भी आना-कानी करेंगे।

८—लायक लोगों के लिए तो केवल एक शब्द ही पर्याप्त है, पर नीच लोग गन्ने की तरह खूव कुटने-पिटने पर ही देने को राजी होते हैं।

९—दुष्ट मनुष्य ने अपने पड़ौसी को जरा खुशहाल और खाते-पीते देखा नहीं कि वह तुरन्त ही उसके चाल चलन मे दोष निकालने लगता है।

१०—क्षुद्र मनुष्य पर जव कोई आपत्ति आती है तो वस उसके लिए एक ही मार्ग खुला होता है और वह यह कि जितनी शीघ्रता से हो सके वह अपने आपको वेच डाले।

धन्यवाद समर्पण

निम्नलिखित सरस्वतीभक्त श्रीमानों ने इस पवित्र काव्य की एक साथ पाँच प्रतियाँ सौ रुपया या, इससे भी अधिक रुपयों में लेकर 'विशेष ग्राहक' बनने की उदारता प्रगट की है। उनकी इस साहित्यिक--अभिरुचि का हम धन्यवाद सहित अभिनन्दन करते हैं।

१—श्रीमान् दानवीर रावराजा सर सेठ हुकुमचन्द जी, इन्दौर २००)

२—श्रीमान् दानवीर सेठ गजराज जी गंगवाल, लाड़नू ५००)

३—श्रीमान् दानवीर रा० ब० सेठ त्रिलोकचन्द जी कल्याणमल जी इन्दौर १००)

४—श्रीमान् दानवीर बाबू कपूरचन्द जी धूपचन्द जी जैन रईस, कानपुर १००)

५—श्रीमान् स० सिं० मोतीलाल जी कस्तूरचन्द जी जैन रईस, जबलपुर (स्व० पुत्र कीर्तिवर्द्धन की स्मृति में) १००)

६—श्रीमान् स० सिं० रतनचन्द जी निर्मलकुमार जी जैन रईस, जबलपुर १००)

७—श्रीमती सोनाबाई जी धर्मपत्नी स० सिं० कस्तूरचन्द जी भोलानाथ जी रईस, जबलपुर १०१)

८—श्रीमान् दानवीर रा० ब० वाणिज्यभूषण सेठ लालचन्द जी, विनोद मिल, उज्जैन १०१)

९—श्रीमान् स० सिं० कन्हैयालाल जी गिरधारीलालजी कटनी १०१)

१०—श्रीमती चम्पाबाईजी धर्मपत्नी श्री सिं. तुलसीरामजी कटनी १०१)

११—श्रीमान् पं० महबूबसिंह जी जैन रईस, देहली १००)

१२—श्रीमान् लाला मनोहरलाल जी नन्हेंलाल जी जैन B. A., देहली १००)

१३—श्रीमान् सेठ चूड़ामणि जी कस्तूरचन्द जी जैन, गोंदिया १००)

१४—श्रीमान् सेठ धरमदासजी ऋषभदासजी जैन रईस, सतना १०१)

१५—श्रीमान् सिं० कारेलाल जी कुन्दनलाल जी जैन, सागर १०१)

१६—श्रीमान् सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी जैन, सागर १००)

१७—श्रीयुत ला० नेमिचन्द जी की माता जी मेरठ (पूज्य आचार्य के चित्र के लिये) ६०)